जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 12 • दिसंबर, 2004

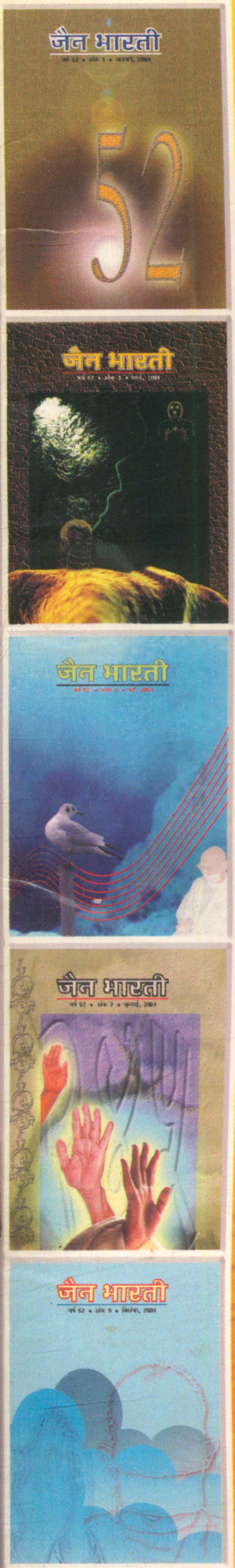

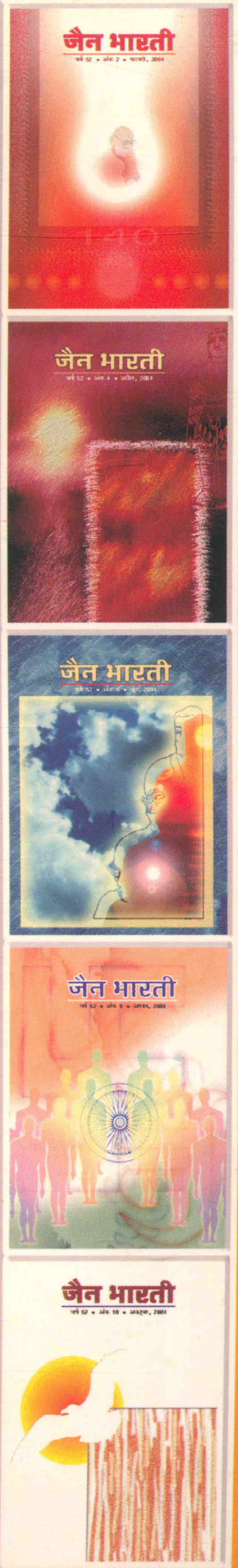

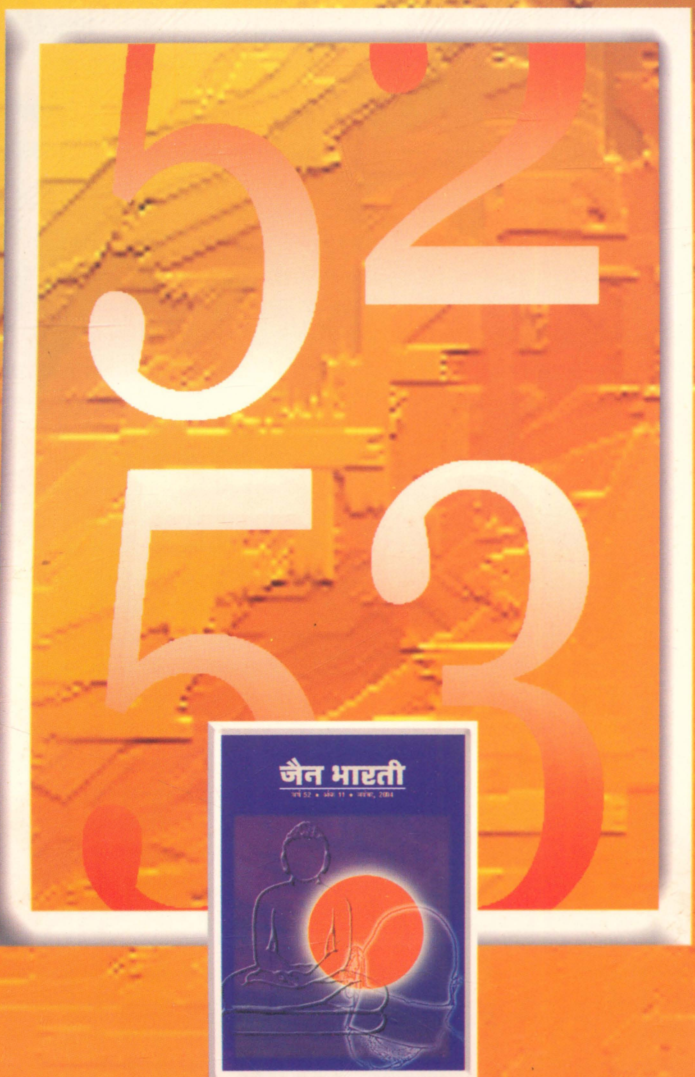

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

बस्तीमलजी छाजेड़

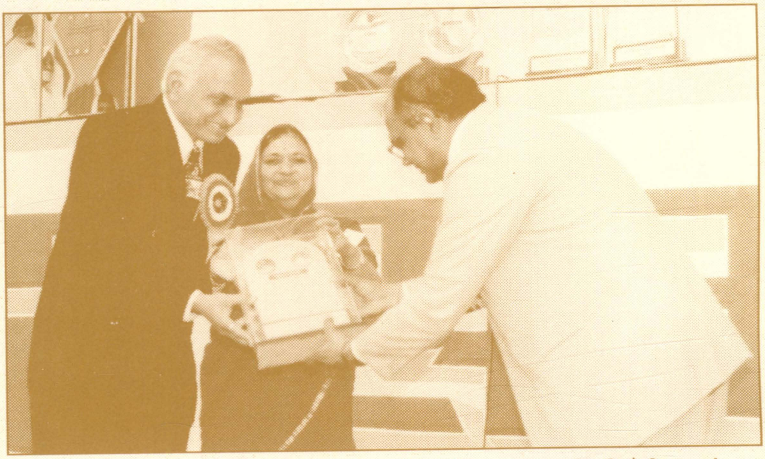

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से श्री (स्व.) बस्तीमलजी छाजेड़ को प्रदत्त 'शासन हितैषी' अलंकरण महासभा अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा से ग्रहण करते हुए श्री मांगीलाल छाजेड़ व श्रीमती विमलादेवी छाजेड़, सिरियारी (बंगलौर)

मनोहर, माँगीलाल, श्रीमती विमलादेवी, शान्तिलाल
संजय, मनीष, नवीन छाजेड़

Sha Mangilal Shantilal & Co.

Manufacturers and Wholesale Suppliers of

Pure Silk Sarees, Handloom Silks, Pure Crapes and Art Silk Sarees

'Shanti Bhavan', 64, A.M. Lane, (19-25, First Cross, D.K. Lane)

Chickpet, Bangalore 560053

Phone : Shop : 22261462, 22205965 Fax : 080-22384004

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • दिसंबर, 2004 • अंक 12

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अध्यात्म : चेतना का ऊर्ध्वारोहण

14
माणकचंद सिंघी
समतामूलक आर्थिक संरचना एवं वैयक्तिक मूल्यों का विकास

19
डॉ. बच्छराज दूगड़
संरचनात्मक हिंसा : कुछ पहलू

22
डॉ. रामजीसिंह
अहिंसक अभियानों की नियति

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

27
स्वामी रामतीर्थ
धर्म हमें क्या देता है

31
मुनि प्रशांतकुमार
कैसे लें खिली धूप का आनंद

33
समणी संबोधप्रज्ञा
सोपान : अपरिमेय मंजिल के

36
कहानी
नवनीता देवसेन
अरी बहन

40
कविता
कीर्ति चौधरी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-स्वधर्म

शीलन

43
पांडुरंग सदाशिव साने
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

46
डॉ. आनंदप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'
शिक्षा से सृजन स्वस्थ मानस का

49
समणी शशिप्रज्ञा
स्वस्थ समाज-रचना अणुव्रत से

52
बालकथा
अशोक लाल
कर्ज

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

पंचों को पूछूंगा

एक वैद्य ने किसी आदमी की आंखों की शल्य-चिकित्सा की। आंख के ठीक होने पर वैद्य ने पुरस्कार मांगा।

तब वह बोला—'पंचों को पूछूंगा। यदि पंच कहेंगे, 'तुझे दीखने लग गया', तब मैं तुम्हें पुरस्कार दूंगा।'

तब वैद्य बोला—'तुम्हें कैसा दिखाई देता है?'

तब वह फिर बोला—'पंच कहेंगे कि 'तुझे ठीक दिखाई दे रहा है', तब तुम्हें पुरस्कार दूंगा।'

वैद्य ने सोचा—पुरस्कार मिल चुका!

इसी प्रकार किसी को सिद्धांत समझाकर कहा जाता है, 'अब तुम गुरु स्वीकार करो', तब वह कहता है, 'दो-चार व्यक्तियों को पूछूंगा और पहले जो गुरु हैं, उन्हें भी पूछूंगा। वे कहेंगे तो गुरु-धारणा कर लूंगा।' तब जान लेना चाहिए इसने सिद्धांत को ठीक से नहीं समझा।

हम भगवान के घर के संदेशवाहक हैं

केलवा में परिषद जुड़ी हुई थी। वहां के जागीरदार ठाकर मोखमसिंहजी ने स्वामीजी से पूछा—'गांव-गांव से आपके पास प्रार्थनाएं आती हैं। बहुत पुरुष और स्त्रियां आपको चाहते हैं। वे आपको देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं, उन्हें आप बहुत प्रिय लगते हैं। इसका क्या कारण? आपमें ऐसा कौन-सा गुण है?'

तब स्वामीजी बोले—'कोई साहूकार परदेश गया हुआ था। उसने अपने घर संदेशवाहक भेजा और खर्चे के लिए रुपये-पैसे भेजे। सेठाणीजी संदेशवाहक को देखकर बहुत राजी हुई। गरम पानी से उसके पैर धुलाए। भली-भांति खाना पका कर उसे खिलाया। उसके पास बैठकर अपने पति के समाचार पूछने लगीं—'साहजी शरीर से कैसे हैं—उनका स्वास्थ्य कैसा है? उनके शरीर में सुख-शांति है? साहजी कहां सोते हैं? कहां बैठते हैं?' संदेशवाहक जैसे-जैसे समाचार बतलाता है, वैसे-वैसे वह सुनकर बहुत राजी होती है। पर संदेशवाहक को देख प्रसन्न होने का कारण यह है कि वह उसके पति का समाचार उसे बतलाता है।

'इसी प्रकार हम भगवान के गुण और संदेश लोगों को बतलाते हैं। संसार से मुक्त होने का मार्ग बतलाते हैं। यही कारण है कि पुरुष और स्त्रियां हमसे बहुत प्रसन्न रहते हैं।'

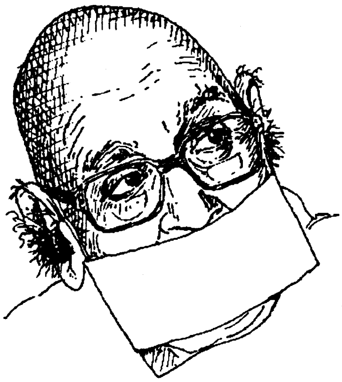

सुख की चाह हर प्राणी की मौलिक मनोवृत्ति है। किंतु भ्रांतियों से भरे इस जगत में सुख की राह खोजना सरल काम नहीं है। किंपाक फल देखने में बहुत सुंदर और स्वाद में बहुत मीठा होता है। उसे खाते समय सुख का अनुभव होता है। किंतु वास्तव में वह सुख नहीं, सुखाभास है। उसे खाने वाला अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। सुख की अनुभूति देने वाला फल दुखद बन जाता है। किंपाक फल में सुख की कल्पना एक भ्रांति है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रकार की भ्रांतियां भी पलती हैं।

सुख और दुख की परिकल्पनाओं में मनुष्य का मन मूढ़ बन जाता है। मूढ़ता के कारण वह सुखोपलब्धि के लिए वैसी प्रवृत्ति में संलग्न हो जाता है, जिसकी परिणति दुखमय होती है। घी पाना है। उसके लिए जल का मंथन करने से पहेली उलझती है। इसलिए सुख और दुख की सम्यक् अवधारणा आवश्यक है।

—आचार्यश्री तुलसी

व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। इसलिए उसने संगठन बनाकर रहना शुरू किया। जहां संगठन होता है, वहां एक व्यक्ति दूसरे को सहारा देता है। सहयोग और सहारा जीवन की अनिवार्यता है। इसलिए संगठन की उपयोगिता भी स्पष्ट है। संगठन की स्वस्थता बनी रहे, संगठन अपने लक्ष्य की दिशा में निरंतर गतिमान रहे, इस दृष्टि से समय-समय पर समीक्षा और समालोचना जरूरी है।

सफलता का अमोघ सूत्र है—परस्पर पूरकता। कार्य करने वाला प्रत्येक व्यक्ति सामान्यतया कार्यकर्ता कहलाता है, पर वस्तुतः कार्यकर्ता वह होता है जो दूसरों के लिए खपता है, जो समाज व संगठन के लिए अपना बलिदान करता है, जो नाम और पद की आकांक्षा से दूर रहता हुआ कार्य के लिए धूनी रमा लेता है। जिस संगठन की गति उद्देश्य के अनुरूप होती है, वह संगठन प्राणवान होता है। इसके विपरीत उद्देश्यहीन संगठन प्राणविहीन अस्थिपंजर मात्र रह जाता है। संगठन के हर सदस्य में गुणवत्ता और दक्षता का विकास होने पर ही संगठन में गुणात्मकता का विकास हो सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

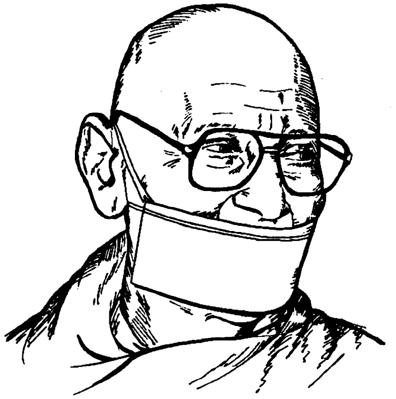

हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं। हमारी चेतना हमें त्याग की ओर ले जाती है, इसलिए हम स्वतंत्र हैं। हमारा कर्तृत्व स्वतंत्र है। जहां चेतना का प्रश्न है, वहां हम स्वतंत्र हैं और जहां कर्म का प्रश्न है, वहां हम परतंत्र हैं। इस दृष्टि से हमारा दायित्व भी सापेक्ष होगा। जहां हम चेतना के साथ होते हैं, वहां हम स्वतंत्र हैं और जहां हम दूसरे के साथ होते हैं, वहां हम परतंत्र हैं। जब हम काल या नियति के प्रभाव में होते हैं, वहां हम परतंत्र बन जाते हैं। हमारी स्वतंत्रता और परतंत्रता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि हम किसके साथ होते हैं, अस्तित्व के साथ होते हैं तब हम पूर्ण स्वतंत्र होते हैं और जब हम कषाय के साथ होते हैं, नियति के साथ होते हैं तब हमारी स्वतंत्रता का विकास कैसे हो सकता है? परतंत्रता को कैसे कम किया जा सकता है? आदमी किस प्रकार अपने उत्तरदायित्व का अनुभव कर सकता है और कैसे अधिक-से-अधिक स्वतंत्र होकर परतंत्रता की बेड़ियों को काट सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर पाना है।

प्रेक्षाध्यान स्वतंत्रता का घटक है। इससे चेतना का जागरण होता है और साधक अपने मूल स्रोत—आत्मा तक, प्रभु तक, परमात्मा तक पहुंचने में समर्थ हो जाता है।

इस साधना के दो प्रारंभिक सूत्र हैं—प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त। प्रतिक्रमण का अर्थ है—लौटना। केवल आगे ही नहीं बढ़ना है, लौटना भी है। लौटना बहुत जरूरी है और उसका भी एक निश्चित क्रम है। आदमी चलता है। क्या वह अपने पैरों को केवल आगे ही बढ़ाता है? नहीं। एक पैर आगे बढ़ता है तब दूसरा पीछे रहता है और जब वह आगे आता है तब आगे वाला पैर पीछे आ जाता है। यदि आगे-पीछे का यह क्रम न हो तो बिलौना हो नहीं सकता। हमें भी आगे बढ़ने के साथ पीछे भी लौटना होगा। प्रतिक्रमण का अर्थ ही है—पीछे लौट आना, वापस आ जाना।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-स्वधर्म

मनुष्य मूलतः अहिंसक है, इसे सर्वमान्य तथ्य न भी माना जाए, पर यह तो स्वीकार्य है ही कि अहिंसकों की गणना अधिसंख्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि अहिंसा मनुष्य का स्वधर्म है। हिंसा परिस्थितिजन्य है—भले वह किसी भी स्तर पर हो और हिंसा की उन सब परिस्थितियों को बदला भी जा सकता है। 'प्रसंग' के इन्हीं पन्नों पर हमने उन सभी पक्षों पर चर्चा की है और पाया है कि हिंसक हो जाने वाली वे सब परिस्थितियां और मनोदशाएं यथोचित शिक्षण-प्रशिक्षण से बदली जा सकती हैं। हमने ऐसे प्रयोगों पर भी यत्किंचित चर्चा की है, जो अहिंसक समाज-रचना के लिए जहां-तहां चल रहे हैं। निष्कर्षतः यह मानना चाहिए कि मनुष्य का स्वधर्म अहिंसा ही है और वह वैसा ही बने रहना भी चाहता है। किसी भी स्तर पर, जब-जब भी हिंसक होता है—वह टूटता है। दबे मन से यह स्वीकार भी करता है कि उसने जो किया वह अकरणीय है, मनुष्योचित नहीं है।

अपने स्वधर्म में वह लौटे और उसकी टूटन समाप्त हो, हताशा और कुंठा और पश्चात्ताप की ठंडी आग से वह पूरी तरह मुक्त हो जाए—ऐसा उपक्रम व्यापक स्तर पर शुरू होने से ही उसके नतीजे वृहत्तर स्तर पर सामने आ सकते हैं। हमने देखा है कि अलग-अलग राष्ट्रों की ओर से कई तरह के मौकों पर शांति की अपीलें जारी होती हैं। 'पीस' के लिए टुकड़ों-टुकड़ों में बहुत काम हो रहे हैं। उनका महत्त्व भी अपने स्थान पर निर्विवाद है, पर इन सबके चलते हुए भी हिंसा की जड़ों को ऐसी चुनौती नहीं मिल पाई है कि मानों उसकी चूलें हिल ही गई हों। अतः अब ऐसे किसी उपक्रम की जरूरत है कि हिंसा की चूलें हिल उठें। यह कार्य किसी जादू के डंडे से नहीं होने वाला। सुनियोजित और सुचिंतित कार्यविधि ही कारगर हो सकती है। टुकड़ा-टुकड़ा स्तर पर हो रहे कामों के अनुभवों और उनकी परिणतियों को ठीक प्रकार से समझकर उनको समेकित स्वरूप देने की जहां आवश्यकता है, वहीं यह भी विचार होना आवश्यक है कि अहिंसक समाज-संरचना में व्यवस्थागत स्तर पर किस तरह की रीति-नीति निर्धारित होनी चाहिए।

आज हम देख रहे हैं कि विश्व स्तर पर एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं जो रक्षा के नाम पर अहिंसा की शक्ति पर भरोसा करते हुए आयुधों और सेना हेतु कम तथा शिक्षा और स्वास्थ्य हेतु अधिक संसाधन उपलब्ध कराता हो। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसा संगठन भी 'शांति सेना' के नाम पर जो बल गठित करता है, वह भी आयुधों व सैन्य उपकरणों से ही सुसज्जित होता है। 'शांति सेना' क्या इतने-भर से ही मानी जाए कि

अलग-अलग राष्ट्रों की 'फौजी वर्दी' एक साथ कदम-ताल करती देखी जा रही हो? वहां भी अहिंसा का बल न होकर सैन्य संसाधनों का सहारा है। तभी तो यह देखा है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की वह 'शांति सेना' अपने 'मिशन' में कभी सफल नहीं हो पाई। सब जानते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ का 'मिशन' दो राष्ट्रों के बीच बढ़ने वाले तनाव और अंततः युद्ध की परिस्थिति को शांति के स्तर तक बदलना होता है। ऐसे बदलाव के लिए क्या उपाय हो सकते हैं?

आचार्य विनोबा भावे अहिंसा की मर्यादा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'जो काम समझाने से नहीं होगा, वह काम प्रेमपूर्वक सेवा करने से जरूर होगा। जो काम प्रेमपूर्वक सेवा करने से नहीं होगा, उसके लिए प्रेमपूर्वक अधिक त्याग करने से वह जरूर होगा। इस तरह उत्तरोत्तर समझाने के लिए, परिणाम लाने के लिए, सौम्य-सौम्य उपाय लागू किए जाएं। और आखिर में सौम्यतम उपाय तो जरूर कारगर होगा। ऐसी अगर श्रद्धा है तो उसका नाम अहिंसा है।' आचार्य विनोबा भाने के इन विचारों को अव्यावहारिक कहा जा सकता है और असहमति भी हो सकती है, पर अहिंसा के प्रति दृढ़ आस्था अवश्य परिलक्षित होती है। आज ऐसी आस्था परमावश्यक है। अहिंसा के प्रति ऐसी ही दृढ़ता से अहिंसक समाज का निर्माण हो सकता है।

इसके लिए ढांचागत स्वरूप के पुनर्निर्धारण पर विचार आवश्यक है। जब हम ढांचागत स्वरूप के निर्धारण की बात सोचते हैं तो हमारे सामने शिक्षा ही प्रथमतः रहती है। गांधीजी ने 'नई तालीम' नाम से एक शिक्षण विधि आजादी से पहले ही सबके सामने रख दी थी—यदि उस पर पूरी तरह गौर करें तो हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि ढांचागत स्वरूप-निर्धारण में प्रथमतः शिक्षा ही आनी चाहिए। 'नई तालीम' पर एक स्पष्टीकरण भी विनोबाजी देते हैं—'····शिक्षण का और ज्ञान का जो मूलभूत विचार होता है, वह अनादि ही होता है, नया नहीं होता है। परंतु बीच-बीच में विचार मंद पड़ जाता है और नए जमाने के साथ उसे नए रूप में प्रकाशित करना होता है, तो वह नई चीज बन जाती है।' वास्तव में 'नई तालीम' कई अर्थों में आज भी नई है और यदि हम अहिंसक समाज-संरचना के लिए गंभीर हैं, तो हमें 'नई तालीम' पर नए सिरे से विचार करना चाहिए। विनोबाजी के शिक्षण-विचारों में नई तालीम के विविध पक्षों को हम देखें तो उसके एक-एक फलक में हम पाते हैं कि शिक्षा के जरिए ही बुनियादी परिवर्तन लाए जा सकते हैं। नई तालीम की विवेचना करते हुए ही वे कहते हैं—'अहिंसा यानी मारना नहीं, पीटना नहीं या केवल शस्त्र-त्याग—इतना ही नहीं। यह तो एक निगेटिव—अभावात्मक वस्तु हो जाती है। अहिंसा के चिंतन का प्रोसेस—प्रक्रिया—ही भिन्न है। यह बात हमें निरंतर ध्यान रखनी चाहिए।' यही बात वे आगे बढ़ाते हैं और चिंतन के साथ में स्थानीय स्तर पर किए जाने वाले कामों के मध्य समन्वय की बात भी स्थापित करते हैं। वे कहते हैं कि चिंतन और काम—दोनों में विरोध नहीं आना चाहिए। विनोबाजी का मानना है—'····हम नजदीक वालों की ऐसे सेवा करेंगे कि दूर वालों को कुछ भी नुकसान न हो, बल्कि उन्हें भी फायदा ही होगा। विश्व-हित से अविरोधी, आस-पास के क्षेत्र की सेवा—यह है अपने जीवन का रहस्य। हमारी जो तालीम होगी, वह इस तरह से दोहरी शक्ति से पूर्ण होगी। विचार में कहीं भी संकीर्णता और संकुचितता न हो, लेकिन प्रत्यक्ष आचरण और कृति की योजना में आस-पास के क्षेत्र की तरफ अनन्य निष्ठा हो।' दुर्भाग्य से आज शिक्षा का जो ढांचा है, उसमें ऐसे विचार गायब हैं। आज प्रतिस्पर्द्धा और गला-काट होड़ है जिसमें सेवा और निष्ठा के लिए कोई जगह नहीं है। देखा जाए तो हिंसा के बीज यहीं पर पड़ जाते हैं। अतः अहिंसक समाज-निर्माण के लिए पहली सीढ़ी 'शिक्षण' ही है। इसीलिए शिक्षा के ढांचे पर आज के संदर्भ में गंभीर चिंतन होना चाहिए और नई तालीम से लेकर अब तक जो भी प्रयोग हुए हैं—उन सबको अपने सम्मुख रखना चाहिए।

अहिंसा के अलग-अलग पक्षों पर यहां पूरे वर्ष जो चर्चा की गई, उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अस्मिता को टिकाए रखने का एकमात्र आधार अहिंसा ही है और अहिंसक समाज-निर्माण के लिए अन्य सभी पक्षों पर सोचते हुए प्रथमतः दृष्टि शिक्षा के ढांचे पर ही ठहरती है।

अहिंसा का वातायन कहीं से खुले—वह खुलना चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

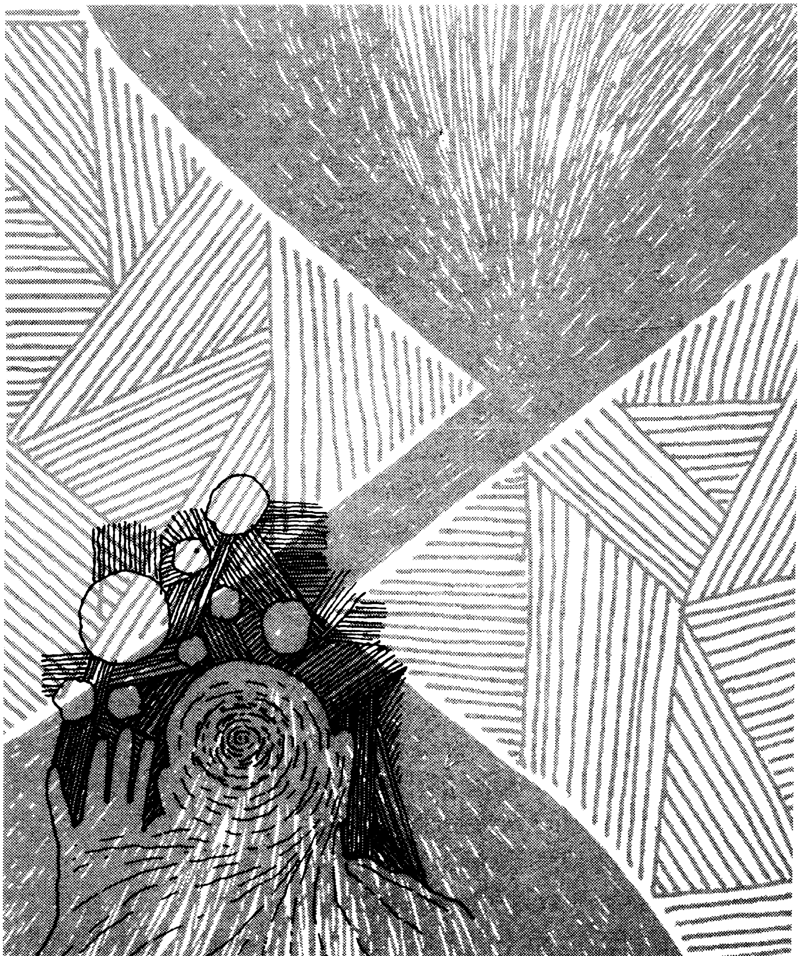

नए भारत की रचना तभी ठीक तरह से संभव होगी जब हम अपनी परंपराओं, मान्यताओं, धारणाओं और स्वभाव को समझ पाएंगे। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध के बाद, उसमें जो हुआ और उससे जो परिणाम निकला उन्हें समझने के लिए हमारे ऋषि व दूसरे विद्वान वर्षों तक नैमिषारण्य में बैठे और आने वाले भविष्य को केंद्र में रखकर बीते समय को समझने में लगे रहे। आज का समय भी महाभारत के उक्त काल से कुछ मिलता-जुलता ही है। हमारी परंपराओं, दर्शन और गए समय पर, आज का ध्यान रखते हुए, विचार आवश्यक हैं। इसके लिए 3-4 नए विद्या-केंद्र स्थापित हों तो हम भविष्य में कैसे-क्या करना है, यह निश्चित कर सकेंगे।

—धर्मपाल

❑

कुछ व्यक्ति वस्तु को छोड़ देते हैं, किंतु उसे पकड़ने वाला राग विद्यमान रहता है। इस स्थिति में कब व्यक्ति फिसल जाए, कहा नहीं जा सकता। यह विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं है। जब आध्यात्मिक दृष्टिकोण बनता है तब विषय छूटता है और राग भी छूटता है। उस वस्तु के प्रति वैराग्य जाग जाता है। ध्यान करने वाला परम की द्युति को देख लेता है। उसे परम-प्रकाश की अनुभूति हो जाती है। वह विषय और राग—दोनों को छोड़ देता है। वह अपने में इतनी तृप्ति प्राप्त कर लेता है कि विषयों के प्रति आकर्षण ही नहीं होता।

❑

अध्यात्म : चेतना का ऊर्ध्वारोहण

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

क्या अध्यात्मवाद और भौतिकवाद वास्तव में विरोधी हैं? अनेकांत की दृष्टि से विचार करें तो दुनिया में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो सर्वथा विरोधी या भिन्न हो। अचेतन और चेतन—दो भिन्न तत्त्व हैं पर अचेतन से चेतन सर्वथा भिन्न नहीं है और चेतन से अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं है। आत्मा और पुद्‌गल—दोनों में अनंत धर्म हैं, अनंत गुण और पर्याय हैं। चेतन और अचेतन में अंतर इतना ही है कि चेतन में अचेतन का गुण नहीं है और अचेतन में चेतन का गुण नहीं है। इस भेद-रेखा के आधार पर चेतन और अचेतन—दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व बन गया, किंतु जो शेष अनंत धर्म हैं, उनमें बहुत-सारे धर्म समान हैं—जो चेतन में हैं, वे अचेतन में हैं और जो अचेतन में हैं, वे चेतन में भी हैं। इसलिए दोनों को सर्वथा भिन्न या अभिन्न नहीं कहा जा सकता। यह भेदाभेदवाद का सिद्धांत है—न सर्वथा भेद, न सर्वथा अभेद। किंतु भेद भी है और अभेद भी है। हम मनुष्य का उदाहरण लें। जितने मनुष्य हैं, वे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, मनुष्यता की दृष्टि से सब समान हैं। जबकि आकृति-प्रकृति आदि से समान नहीं मिलेंगे। हजारों व्यक्ति एक जगह एकत्रित हो जाएं, उनमें समान आकृति को ढूंढ़ना मुश्किल ही होगा। आकृति का भेद है, प्रकृति का भेद है, रंग-रूप का भेद है। ऐसे बहुत-सारे भेद मिलते हैं—मनुष्य-मनुष्य में। ये भेद और अभेद—दोनों साथ-साथ चलते हैं। इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता।

हमें अध्यात्मवाद और पौद्‌गलिकवाद—दोनों को जानना है। जानने के बाद जो करणीय है, वह है—भेद-विज्ञान। अध्यात्म साधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है भेद-विज्ञान। मैं शरीर नहीं हूं। प्रश्न उठेगा—शरीर के साथ अभेद कैसे स्थापित हुआ? इंद्रिय-चेतना ने चेतन और अचेतन में अभेद स्थापित कर दिया। आदमी पदार्थ पर इतना आसक्त हो गया कि वह यह मानता ही नहीं है कि मैं शरीर से भिन्न हूं। उसका मानस कहता है—जो शरीर है, वह मैं हूं, जो मैं हूं, वही शरीर है। व्यक्ति व्यवहार में उसे अभिन्न ही मान रहा है। यदि चेतना और शरीर को भिन्न माना जाता तो चेतना शरीर की दासी नहीं बनती। व्यक्ति का व्यवहार यह बतला रहा है कि शरीर मालिक बन गया है। चेतना या चैतन्य दासी बन गए हैं।

हम देखें—शरीर के लिए कितनी शक्ति खपती है। प्रातःकाल से रात्रि में शयनकाल तक के मध्य का सारा समय शरीर की सुरक्षा, शरीर की सार-संभाल और शरीर की साज-सज्जा में ही बीतता है। हमने शरीर को अपना मान लिया, इसलिए उसकी देखभाल में सारा समय बीत जाता है। यदि उसे भिन्न मानते, चैतन्य के प्रति जागरूक होते, तो इतना समय शरीर के लिए नहीं देते। शरीर के साथ अभेद का एक भाव जुड़ गया, इसलिए हमारी शक्ति उसमें केंद्रित हो गई। उसका कारण भी है कि इंद्रिय-चेतना बार-बार प्रेरित कर रही है—शरीर का पालन-पोषण करो,

उसकी सुरक्षा और देखभाल करो। इंद्रिय चेतना की इस प्रेरणा ने अभेद की स्थापना में सहयोग किया है।

स्वामी कौन—चेतना या शरीर

बहुत लोग यह विवेक नहीं कर पाते कि मैं शरीर नहीं हूं। यह सोचने का अनेक लोगों को अवकाश ही नहीं मिलता कि जो शरीर है—वह मैं नहीं हूं। यह बोध जिस दिन जाग जाए, उस दिन चेतना स्वामी बनेगी और शरीर उसका सेवक या सहयोगी बनेगा। अभी शरीर हमारा सहयोगी नहीं है। यदि शरीर हमारा सहयोगी होता तो शरीर में इतनी बीमारियां पैदा नहीं होतीं। शरीर में बीमारी क्यों पैदा होती है? इसका एक कारण यही है कि चेतना को स्वामी नहीं मानते। यदि चेतना को स्वामी मानकर चलें तो हमारा ध्यान चेतना पर केंद्रित होगा। चेतना स्वस्थ कैसे रहे? विशुद्ध और पवित्र कैसे रहे? चिंतन का केंद्रीय तत्त्व चैतन्य रहेगा तो शरीर सहयोगी मात्र रह जाएगा। शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है, इसमें कोई संदेह नहीं है, किंतु चेतना को बीमार बनाकर शरीर को स्वस्थ रखने की बात भ्रांतिपूर्ण है। सचाई यह है कि जब चेतना विकृत बनती है तब शरीर भी स्वस्थ नहीं रह सकता।

चेतना का प्रतिनिधित्व करता है—भाव। भाव-चेतना ही जब बीमारी है, तब शरीर कैसे स्वस्थ रहेगा? एक व्यक्ति निरंतर क्रोध के आवेश में रहता है, लोभ और अहं के आवेश में रहता है और वह सोचता है कि मैं स्वस्थ रहूं, क्या यह संभव है? एक व्यक्ति शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में आसक्त रहता है, इनका अनहद भोग करता है और सोचता है कि मैं स्वस्थ रहूं, क्या यह संभव हो सकता है? शब्द सुनना तो कान का काम है, किंतु यदि निरंतर कोलाहल ही सुनता रहे तो आदमी बहरा हो जाएगा। ध्वनि प्रदूषण केवल बहरापन ही नहीं, अनेक बीमारियां भी पैदा कर देता है। शब्द को सुनना एक सीमा तक आवश्यक हो सकता है, किंतु उसकी अति तो बीमारी का ही कारण बनती है। देखना आंख का काम है। एक व्यक्ति निरंतर देखता चला जाए, जैसे कि टी.वी. को दिन-रात देखते ही रहें, तो क्या होगा? स्वाद लेना जीभ का कार्य है, किंतु निरंतर स्वाद लेते चले जाएं, तो बीमार बन जाएंगे। पांच इंद्रियों के ये सारे विषय एक सीमा तक ही आवश्यक या उपयोगी हो सकते हैं। ये जीवन और शरीर की स्वस्थता के लिए एक सीमा तक ही मान्य हैं। इनका अति उपभोग करना बीमारियों को निमंत्रण देना है।

भौतिकवादी अवधारणा और अध्यात्म की व्यावहारिक उपयोगिता

भौतिकवादी दृष्टिकोण की जो समस्याएं हैं—वे यही हैं। इसमें चेतना को नकारा गया है और पदार्थ को स्वीकार किया गया है। भौतिकवादी अवधारणा में इंद्रियों की उच्छृंखलता बढ़ी है। भोग करो, विषयों को काम में लो—कोई सीमा या विवेक नहीं रहा। जहां ऐसा अतिभोग होगा वहां बीमारियां पैदा होना अवश्यंभावी है।

अध्यात्मवाद केवल मोक्ष की साधना ही नहीं है, वह व्यवहार के क्षेत्र में भी बहुत उपयोगी है। कहा गया कि इंद्रियों के आकर्षण की सीमा करो। पदार्थ के साथ इंद्रियों का जो अभेद का संबंध है, वह सही नहीं है। असल में 'तुम' उनसे भिन्न हो। अध्यात्म की इस भूमिका द्वारा ही सीमाकरण का यह सूत्र प्रस्तुत हुआ, अन्यथा सीमा की तो कोई अपेक्षा ही नहीं समझी गई थी। अध्यात्म का मत रहा कि जितने पदार्थ हैं, वे विरोधी या शत्रु नहीं हैं, किंतु वे मात्र सहायक और उपयोगी हैं। इंद्रिय-चेतना में पदार्थ आवश्यक या उपयोगी नहीं माना जाता, किंतु उसके साथ अभेद स्थापित कर लिया जाता है। जो व्यक्ति स्वाद का लोलुप होता है, उसके लिए भोजन आवश्यक अथवा उपयोगी नहीं, वह उसे मात्र स्वाद-प्रधान मानता है। वह सोचेगा जो-जो अच्छा लगे—खाए जाओ। परिणाम क्या होगा, इसकी वह चिंता नहीं करता। यदि आवश्यकता और उपयोगिता का दृष्टिकोण हो, तो कोई अधिक नहीं खाएगा, अनावश्यक नहीं खाएगा। जितनी आवश्यकता है, उतना ही खाएगा। इसी प्रकार न अनावश्यक देखेगा और अनावश्यक सुनेगा भी नहीं। न ही अनावश्यक बोलेगा।

अध्यात्मवाद : पहला सूत्र

अध्यात्मवाद का पहला सूत्र है—अनावश्यक भोग मत करो। पदार्थ का भोग करो, पर उसके साथ जुड़ो मत, अभिन्न मत बनो। अभिन्न बनाने वाला तत्त्व है—राग, प्रियता। व्यक्ति रोटी खाता है, पानी पीता है। रोटी-पानी भिन्न हैं और खाने वाला भिन्न है। जब राग पैदा हो जाता है, तो रोटी और खाने वाला, पानी और पीने वाला—एक बन गए। व्यक्ति ने नया कपड़ा पहना। कपड़ा अलग है और व्यक्ति अलग है, किंतु जब कपड़े के प्रति राग पैदा हो जाता है, तब कपड़ा और व्यक्ति एक बन जाता है। जहां राग पैदा होता है, वहीं भेद समाप्त हो जाता है। धन के प्रति राग होता है, तो यही स्थिति बनती है।

यह भौतिकवाद की समस्या है—राग के धागे में चेतना और पदार्थ को एक ही माला में पिरो दिया। जबकि चेतना अलग है, पदार्थ अलग है। राग का धागा बीच में आया और दोनों एक बन गए। इस समस्या के संदर्भ में ही अध्यात्म के आचार्यों ने भेद-विज्ञान का सूत्र दिया। तुम भेद का अनुभव करो—शरीर और पदार्थ के प्रति जो मूर्च्छा है, वह टूटती चली जाएगी। पदार्थ की चेतना से हटकर ज्ञाता-द्रष्टा की चेतना, विशुद्ध चेतना की स्थिति का अनुभव होने लगेगा। जब-जब राग प्रबल होता है, तब-तब चेतना अशुद्ध बनती है। कलह, वैमनस्य और अपराध के बीज अंकुरित होते हैं।

एक घटना को देखें। दो भाई बहुत संपन्न थे। पिता का निधन हो गया। भाइयों ने आपस में संपत्ति का बंटवारा किया। दोनों के हिस्से में करोड़ों की संपत्ति आई। दोनों भाइयों के अलग-अलग मकान थे। एक भाई के मकान में सुपारी का पेड़ उगा हुआ था और दूसरे भाई के मकान में उसकी शाखाएं झुकी हुई थीं। वही पेड़ झगड़े का कारण बना। एक भाई ने कहा—उसके फल मेरे घर की सीमा में लगे हुए हैं, इसलिए उन्हें लेने का अधिकार मेरा है। दूसरा भाई बोला—पेड़ मेरे मकान में उगा हुआ है, इसलिए फल मैं ही लूंगा। इस बात को लेकर तनातनी बढ़ गई। मामला न्यायालय में गया। न्यायाधीश अनुभवी था। उसने कहा—मैं सारी स्थिति को स्वयं देखूंगा, फैसला उसके बाद सुनाऊंगा। न्यायाधीश मकान पर आया। पूरी स्थिति का निरीक्षण किया और कुछ मजदूरों को बुलाकर सुपारी का वह पेड़ कटवा कर उसे समुद्र में फिंकवा दिया। दोनों भाई बोले—न्यायाधीश महोदय! यह आपने क्या किया? न्यायाधीश बोला—झगड़े की जड़ को मैंने मिटा दिया है। अब फैसला भी सुना दूंगा।

इस घटना के बारे में सोचें। ऐसा लगता है कि इतनी छोटी-सी बात के लिए संघर्ष? प्रश्न है, इतनी-सी बात के लिए झगड़ा क्यों होता है? आकर्षण और राग का धागा ही इसका कारण बनता है। पेड़ अलग था, मालिक अलग था, पर पेड़ में अभिन्नता का इतना आरोपण हो गया कि पेड़ को अलग मानना संभव ही नहीं रहा। पेड़ को अपने में समाहित किया और संघर्ष पैदा हो गया। बात छोटी या बड़ी नहीं होती। आदमी जिस बात को अपने में आरोपित कर लेता है, जिसके साथ तादात्म्य और अभेद स्थापित कर लेता है—संघर्ष का बीज उसी क्षण बो देता है।

पदार्थ और चैतन्य

यह जो राग का सूत्र है—यही भौतिकवादी दृष्टिकोण है। अध्यात्म में चेतनावादी दृष्टिकोण है। जहां पदार्थ की प्रधानता है—वहां भौतिकवाद। जहां चैतन्य की प्रधानता है—वहां अध्यात्मवाद। एक अध्यात्मवादी व्यक्ति भी तो पदार्थ का उपभोग करता है। वह भी खाता है, पीता है, वस्त्र धारण करता है। कोई भी अध्यात्मवादी ऐसा नहीं है, जो पदार्थ से सर्वथा मुक्त रह लेता हो। वह श्वास भी लेता है। श्वास पुद्गल है। सब छोड़ दे, तो भी शरीर तो धारण किए हुए है ही। शरीर क्या है? वह भी पौद्गलिक-भौतिक है। अतः कोई भी व्यक्ति पदार्थ से सर्वथा अलग रह नहीं सकता।

ठीक इसी तरह एक भौतिकवादी भी चेतना को सर्वथा अस्वीकार नहीं करता। व्यक्ति सोचता है, विचारता है, काम करता है, तब इसे अस्वीकार कैसे करे? न अध्यात्मवादी पदार्थ को सर्वथा अस्वीकार करता है और न ही भौतिकवादी चेतना को सर्वथा अस्वीकार करता है। अंतर इतना ही है कि एक दृष्टिकोण में चेतना की प्रधानता है और पदार्थ गौण है, वह आवश्यक या उपयोगी अवश्य है। दूसरी धारणा में पदार्थ ही सब-कुछ है और चेतना गौण है। ये दो अलग-अलग दृष्टियां हैं।

हम ध्यान के संदर्भ में विचार करें। ध्यान करने वाला एक व्यक्ति किस दिशा में चलेगा? वह पदार्थ को नहीं छोड़ेगा, किंतु पदार्थ में होने वाले राग को छोड़ने का अभ्यास करेगा। अध्यात्म से जुड़ा बहुत मार्मिक श्लोक है—

आतुरैरपि जडैरपि साक्षात्, सुत्यजा विषयाः न तु रागः।
ध्यानवांस्तु परमद्युतिदर्शी, तृप्तिमाप्य न तमृच्छति भूयः।।

एक बीमार और जड़ व्यक्ति विषय को छोड़ देता है, किंतु राग को नहीं छोड़ पाता। जबकि ध्यानी व्यक्ति विषय की इच्छा भी नहीं करता।

जीवन का मोह और मौत का भय त्याग के लिए विवश करता है। वह विषय को छोड़ता है, किंतु उसके प्रति जो राग है, उसे नहीं छोड़ पाता। भौतिकवादी दृष्टिकोण में विषय-भोग की चेतना जाग्रत रहती है। जहां राग विद्यमान है वहां विषय का त्याग स्थाई नहीं बन पाता। जैसे ही विषय सामने आते हैं, व्यक्ति का मन उन्हें भोगने के लिए मचल जाता है। कुछ व्यक्ति वस्तु को छोड़ देते हैं, किंतु उसे पकड़ने वाला राग विद्यमान रहता है। इस स्थिति में कब

व्यक्ति फिसल जाए, कहा नहीं जा सकता। यह विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं है। जब आध्यात्मिक दृष्टिकोण बनता है तब विषय छूटता है और राग भी छूटता है। उस वस्तु के प्रति वैराग्य जाग जाता है। ध्यान करने वाला परम की द्युति को देख लेता है। उसे परम-प्रकाश की अनुभूति हो जाती है। वह विषय और राग—दोनों को छोड़ देता है। वह अपने में इतनी तृप्ति प्राप्त कर लेता है कि विषयों के प्रति आकर्षण ही नहीं होता।

एक दृष्टिकोण यह भी है—जिसमें केवल राग को छोड़ने पर बल दिया जाता है। राग छूट जाता है तो विषय अपने ही आप छूट जाते हैं। यह भी अध्यात्म का दृष्टिकोण है।

भेद-विज्ञान : चेतना का ऊर्ध्वारोहण

योग-विज्ञान का सूत्र है—हम चेतना का ऊर्ध्वारोहण करें। चेतना को ऊपर उठाएं। चेतना के अनेक स्तर हैं—इंद्रिय-चेतना, मानस-चेतना, भाव-चेतना, अध्यात्म-चेतना। चेतना के ऊर्ध्वारोहण की बात समझ में आए, तो योग-विज्ञान का मर्म भी समझ में आ जाए। पदार्थ भिन्न है, मैं भिन्न हूं। मेरा अस्तित्व पदार्थ से भिन्न है, पदार्थ का अस्तित्व मुझसे भिन्न है। यह चेतना जितनी-जितनी स्पष्ट होती है, उतना-उतना भेद-विज्ञान सधता है। उतना ही चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है। इस स्थिति में चेतना स्वार्थ में लिप्त नहीं होती। संघर्ष, कलह और झगड़ों में लिप्त नहीं होती। मकान, सत्ता, संपत्ति के लिए भाई को मारने का प्रश्न नहीं आता। न्यायालय में जो अधिकतम समस्याएं आती हैं, वे अभेद-विज्ञान की ही समस्याएं हैं। वे ही लोग समस्याएं पैदा करते हैं, जिन्होंने पदार्थ के साथ अभेद स्थापित कर रखा है। जहां पदार्थ के प्रति अपनत्व या ममत्व की बुद्धि है, वह इंद्रिय-चेतना का स्तर है और इंद्रिय-चेतना ही संघर्ष की जड़ है।

इंद्रिय-चेतना के स्तर पर ऐसी घटनाएं घटित हो जाती हैं, जब किसी प्रिय वस्तु का दूसरा उपयोग कर लेता है। हम इस सचाई को स्वीकार करें कि इंद्रिय-चेतना के स्तर पर जीने वाला कलह, कदाग्रह, संघर्ष और आवेश से मुक्त नहीं हो सकता। वह अपने स्वार्थ को ही मुख्य मानता है। दूसरे के स्वार्थ का हनन करने में उसे संकोच नहीं होता। वह दूसरे के प्रति क्रूर बन जाता है, अन्याय और शोषण करता है। जितने अपराध होते हैं, वे इंद्रिय-चेतना के स्तर पर ही होते हैं। एक व्यक्ति जानते हुए भी नशा करता है, वह उसे छोड़ नहीं पाता। कारण स्पष्ट है—वह इंद्रिय-चेतना के स्तर पर जी रहा है। उसने उस वस्तु के साथ इतना तादात्म्य स्थापित कर लिया कि उसके बिना रह ही नहीं पाता। काम-वासना, इंद्रियों की उच्छृंखलता और इनसे पनपने वाले अपराध इसी चेतना के स्तर पर जन्म लेते हैं।

अध्यात्मवाद ने इस चेतना को ऊपर उठाने की दिशा दी है। एक मार्गदर्शन दिया कि चेतना का ऊर्ध्वारोहण संभव है। व्यक्ति शांति का जीवन जी सकता है। यह भेद-विज्ञान की चेतना का स्तर है। दार्शनिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि चेतन से अचेतन न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न, किंतु साधना की दृष्टि से मूर्च्छा और राग को कम करने के लिए उसे चेतना का अनुभव जरूरी है। जब चेतना इंद्रिय के स्तर को अतिक्रांत कर पवित्र एवं विधायक भाव के स्तर पर आती है, तब अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं।

दस-बारह वर्ष का एक बच्चा भी कह सकता है—मैं ये-ये पदार्थ नहीं खाऊंगा। वह बहुत कम चीजें खाता है। जबकि साठ वर्ष का एक व्यक्ति प्रत्येक अच्छी वस्तु को खाने के लिए लालायित रहता है। यह अंतर क्यों होता है? बच्चे में चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो गया। उसकी चेतना इंद्रिय के स्तर से आगे पवित्र भाव के स्तर पर अवस्थित हो गई। और जो बड़ा है, वह अभी भी इंद्रिय-चेतना के स्तर पर ही जी रहा है। यह नियम नहीं है कि बड़ा संयमी होता है और छोटा असंयमी। बड़ा बहुत असंयमी और छोटा बहुत संयमी हो सकता है। भेद का यह कारण चेतना के स्तर का अंतर है। जिसकी चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो गया, वह अनासक्त और अलोलुप बन जाएगा। जिसकी चेतना निम्न स्तर पर केंद्रित है, वह आसक्त और लोलुप बना रहेगा। प्रश्न छोटे या बड़े का नहीं है। प्रश्न है चेतना के स्तर का। जब भेद-विज्ञान का यथार्थ बोध होता है, तब आतुरता और जड़ता—दोनों से बचाव हो जाता है। जबकि भय और प्रलोभन की स्थितियों में विषय छूटते हैं, राग नहीं छूटता।

राग के त्याग का मार्ग है—भेद-विज्ञान। जैसे-जैसे भेद-विज्ञान की चेतना स्पष्ट होती है, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का मर्म स्पष्ट होता जाता है। अध्यात्मवाद का सूत्र है—वैराग्य को बढ़ाओ। राग को कम करो। पदार्थ के साथ एकात्मकता स्थापित करने वाला जो राग का सूत्र है, उसे भेद-विज्ञान के द्वारा छिन्न कर डालो। फिर अध्यात्मवाद अपने स्थान पर रहे और भौतिकवाद अपने स्थान पर—संघर्ष के लिए कोई अवकाश नहीं रहेगा।

बदलती जीवन-शैली

आज जीवन-शैली बदल रही है। इस बदली हुई जीवन-शैली ने राग को बहुत बढ़ाया है। इसीलिए आज रागात्मक अपराध बहुत हो रहे हैं। आज धन के लिए जितने अपराध होते हैं, उतने अतीत में कभी नहीं हुए होंगे। अर्थ आवश्यक है, किंतु अर्थ को ही सब-कुछ मान लेने का जो दृष्टिकोण बना है, उसने अनर्थ को जन्म दिया है। अर्थ ही सर्वोपरि है—यह दृष्टिकोण शायद अतीत में बहुत कम रहा होगा। जीवन-शैली में आए बदलाव के कारण आज ढेर-सारे पदार्थ चाहिए। आज जितने सुख-सुविधा के साधन विकसित हुए हैं, उतने पहले नहीं थे। भौतिकवाद ने प्रगति की है। पदार्थों की सूची लंबी हो गई है और राग का दृष्टिकोण बढ़ा है।

यह एक नियम है कि कर्म का बंध प्रत्येक व्यक्ति के साथ होता है। अंतर मात्रा का हो सकता है। जितना प्रबल राग, उतना गाढ़ा बंधन। जितना अल्प राग, उतना शिथिल बंधन। अध्यात्म की भाषा है कि जिस व्यक्ति की आसक्ति कम है, उसके बंधन भी कम होंगे। जिस व्यक्ति में आसक्ति प्रगाढ़ है, उसके बंधन भी गहन और तीव्र होंगे। एक यह सोचता है कि मैं जीवन के पोषण के लिए संयम-पूर्वक खाऊं। दूसरा सोचता है—कितना स्वादिष्ट पदार्थ है। वह इस आसक्ति की भावना से खाता है। इन दोनों दृष्टिकोणों में बहुत अंतर है। गाढ़ बंधन द्वेष और राग की तीव्रता से होता है। शिथिल बंधन द्वेष और राग की अल्पता से संभव बनता है। भेद-विज्ञान राग के इस चक्रव्यूह को तोड़ने की साधना है। जो इस साधना में निमग्न है, उसके लिए भौतिकवाद कभी कोई समस्या नहीं बनता। ❖

जिसका सब अहंकार चला गया और जिसमें निंदा, हिंसा, कपटादिक व्यवहार नहीं, और देहबुद्धि भी नहीं, वह निर्मल स्फटिक सरीखा स्वच्छ है। अधिक क्या कहें, उसका सब शरीर चिंतामणि-रूप ही है। वह सब तीर्थों को पावन करने वाला तीर्थ हो गया है। जिसके दर्शन से मोक्ष-लाभ होता है, जिसका मन शुद्ध हो गया है, उसको माला आदि बाहरी चिह्नों की कुछ भी आवश्यकता नहीं; एक मन के शुद्ध होने से वह सब भूषणों से मंडित होता है, और जो निरंतर हरि-गुण गाता है, उसमें अखंड आनंद रहता है। जिसने अपना द्रव्य, देह और मन प्रभु के अर्पण कर दिया है और जिसे कोई आशा नहीं है, ऐसा पुरुष पारस-मणि से भी बढ़कर है।

जिसके मुंह में अमृत तुल्य मीठे शब्द हैं, जिसकी देह प्रभु के लिए ही लगी हुई है, जो पुरुष सर्वांग-निर्मल है और जिसका चित्त गंगाजल के समान पवित्र है, उसके दर्शन-मात्र से तापत्रय मिटते हैं एवं विश्रांति मिलती है।

विषय की अति-लालसा बहुत बुरी है। चित्त अगर विक्षुब्ध है तो चंदन का उबटन भी अंग को जलाता है। मन अगर अस्वस्थ है तो सुखोपचार से भी पीड़ा होती है।

चित्त का अगर समाधान हो गया तो विषवत् दुख भी सोने सरीखे सुखकर लगते हैं।

जिसको एक देव ही प्रिय है और जिसमें देव के प्रति अखंड प्रेमभाव है, भूमंडल में वही पवित्र और वही भाग्यवान है। उस पुरुष की सेवा देव को पहुंचती है।

जो भगवान के चरणों का चिंतन करते हैं, वे सज्जन मेरे प्रिय संगी-साथी हैं। अन्य लोगों को मैं मर्यादापालन-मात्र के लिए मानता हूं; क्योंकि आखिर वे सब देव के ही तो अंश हैं। परंतु मुझे हरि-भक्ति करने वाले जितने प्रिय हैं, उतने अन्य नहीं हैं।

—संत तुकाराम

❑ चूंकि श्रम के प्रतिफल में कमी को, जो इन परिस्थितियों में एक विकल्प हो सकता है—अर्थशास्त्र और दर्शन की प्राचीन एवं नवीन—किसी भी मान्यता में स्वीकार नहीं किया गया है। वैयक्तिक क्षमताओं में विकास स्वाभिमानी स्वावलंबन का स्थाई समाधान है। महावीर का दर्शन परोक्ष रूप से वैयक्तिक क्षमताओं के विकास का ही दर्शन है। इसमें प्रत्यक्ष रूप में उत्पादकता बढ़ाने वाली बातों का चाहे समावेश न हो, पर नशा-मुक्ति, व्यसन-मुक्ति, व्याधि-मुक्ति और आत्मिक शक्तियों के विकास के रूप में वैयक्तिक क्षमताओं के विकास की असीमित संभावनाएं हैं। ये क्षमताएं परोक्ष रूप से न केवल नई संप्रेरणाएं संजोती हैं, कर्मण्यता की भावना को भी सुदृढ़ करती हैं। इस प्रकार उत्पादन क्षमता पर होने वाले प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता।

समतामूलक आर्थिक संरचना एवं वैयक्तिक मूल्यों का विकास

❑ माणकचंद सिंघी

'व्यक्ति एवं समुदाय के स्तर पर ऊर्ध्वारोहण'—विकास की ऐसी अवधारणा सार्वकालिक भी है और सर्वमान्य भी। इस अवधारणा की असंदिग्ध सार्वकालिकता और सर्वमान्यता के लिए इसे तीन शर्तों पर खरा उतरना भी आवश्यक है।

इसका पहला बिंदु है—अगर जीवन-स्थिति में ऐसे सुधार समुदाय के कुछ ही घटकों अथवा व्यक्तियों तक ही सिमट कर रह जाएं और अधिसंख्य आबादी इस प्रक्रिया से अछूती रह जाए तो इस अवधारणा की सार्वकालिकता और सर्वमान्यता को प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

इसका दूसरा बिंदु है—इस ऊर्ध्वारोहण को यदि सिर्फ आर्थिक संपन्नता का ही पर्याय समझ लिया जाए और इसमें वैयक्तिक व सामुदायिक सुख एवं शांति का समावेश न हो तो भी इसकी सार्वकालिकता और सर्वमान्यता संदिग्ध ही रहेगी।

और तीसरी कसौटी है—इस ऊर्ध्वारोहण में यदि भविष्य और वर्तमान की इच्छाओं और आकांक्षाओं का समन्वय नहीं होगा तो इस अवधारणा को स्वीकार करना मुश्किल हो जाएगा।

जीवन-स्थिति के ऊर्ध्वारोहण अथवा विकास के लिए चार सोपान हो सकते हैं—सुख, शांति, संपन्नता और समन्वय। इनमें से किसी भी एक तत्त्व की कमी विकास को सार्वकालिक, सर्वांगीण और सर्वमान्य बनाने अथवा समझने में अवरोधक बन सकती है। आर्थिक विपन्नता की स्थिति में संतोष, अकर्मण्यता और पुरुषार्थ ही सुख का पर्याय होंगे—'जब आए संतोष धन, सब धन धूरि समान।' इस कथन में धन की एक सीमा के बाद संतोष का आना विकास का सूचक होगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'संतोष अच्छा भी है और बुरा भी है। जहां संतोष करना चाहिए वहां नहीं किया जाता और जहां नहीं किया जाना चाहिए वहां किया जाता है।' यह एक भाग्यवादी धारणा है, जिसने विकास के मार्ग को अवरुद्ध ही किया है। अतः विश्व के देशों में सुख के 'इंडेक्स' में बांग्लादेश का प्रथम अथवा अग्रणी होना उसके विकसित होने का भ्रम भी पैदा नहीं करता।

मानव एवं मशीन में समन्वय, श्रम का उचित प्रतिफल और वैयक्तिक क्षमताओं में विकास—जिसमें नैतिक क्षमताएं भी शामिल हैं—ये सभी स्वावलंबन की कुंजी हैं। आचार्य चाणक्य ने कहा है—'जो बार-बार ग्रहों और नक्षत्रों का पूछता है, उस मूर्ख को कभी भी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। अर्थ का ग्रह तो अर्थ है, इसमें तारे क्या कर सकते हैं? साधनहीन व्यक्ति सौ प्रतिशत प्रयत्न करके भी अर्थ नहीं पाते। अर्थ अर्थ को बांधता है—जैसे हाथी हाथी को।' अर्थ, अर्थात् संचित पूंजी से ही अर्थ की प्राप्ति होती है। यहां संचित पूंजी का अभिप्राय मशीनों से लेकर वैयक्तिक क्षमता तक है।

अगर संचित पूंजी और मानवीय श्रम का एक निश्चित अनुपात हो तो मानव एवं मशीन में समन्वय की बात का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। किंतु अगर उत्पादन की तकनीक मशीन एवं मानव-श्रम में से चुनाव की संभावनाएं प्रस्तुत करें, तो यह समन्वय आवश्यक हो जाएगा। औद्योगिक क्रांति के पहले तक मानव एवं मशीन में इस प्रकार के समन्वय की कोई खास समस्या नहीं थी। सामुदायिक जिम्मेदारी के अभाव में प्रतिस्पर्धी बाजार में उत्पादक का मशीन एवं मानव-श्रम में चयन उनके उत्पादन लागत पर होने वाले प्रभाव पर निर्भर करेगा। और यह स्वाभाविक है कि उत्पादक का इन संसाधनों के उपयोग का निर्णय उसके अपने लाभ के स्वार्थ से ही प्रेरित होगा। अगर इस चयन प्रक्रिया में मानव-श्रम बेदखल होता है तो उसका अर्थ है कि वर्तमान मूल्य प्रणाली मशीन के चयन को ज्यादा लाभकारी बनाती है। इस अवस्था में रोजगार की अभिवृद्धि के तीन विकल्प हो सकते हैं—मानव-श्रम की उत्पादकता में वृद्धि अथवा वैयक्तिक क्षमता में ऊर्ध्वारोहण, सामुदायिक संरक्षण, जो मानव-श्रम के उपयोग को उत्पादक के लिए लाभकारी बनाए या इन दो विकल्पों को सम्मिलित करते हुए कोई समन्वित रूप। संरक्षण को एक स्थाई प्रक्रिया बनाने के विपक्ष में काफी सशक्त तर्क है। इसमें न केवल संप्रेरणाएं कुंठित होती हैं, अकर्मण्यता भी पुष्ट होती है।

चूंकि श्रम के प्रतिफल में कमी को, जो इन परिस्थितियों में एक विकल्प हो सकता है—अर्थशास्त्र और दर्शन की प्राचीन एवं नवीन—किसी भी मान्यता में स्वीकार नहीं किया गया है। वैयक्तिक क्षमताओं में विकास स्वाभिमानी स्वावलंबन का स्थाई समाधान है। महावीर का दर्शन परोक्ष रूप से वैयक्तिक क्षमताओं के विकास का ही दर्शन है। इसमें प्रत्यक्ष रूप में उत्पादकता बढ़ाने वाली बातों का चाहे समावेश न हो, पर नशा-मुक्ति, व्यसन-मुक्ति, व्याधि-मुक्ति और आत्मिक शक्तियों के विकास के रूप में वैयक्तिक क्षमताओं के विकास की असीमित संभावनाएं हैं। ये क्षमताएं परोक्ष रूप से न केवल नई संप्रेरणाएं संजोती हैं, कर्मण्यता की भावना को भी सुदृढ़ करती हैं। इस प्रकार उत्पादन क्षमता पर होने वाले प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की दिसंबर, 2001 से प्रारंभ हुई 'अहिंसा यात्रा' को हमें इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसका उद्देश्य अहिंसक चेतना का जागरण एवं नैतिक मूल्यों के विकास के साथ वैयक्तिक क्षमताओं का विकास भी है। इस यात्रा के दौरान एवं इस समय में यात्राओं के स्थानों के अतिरिक्त भी अन्य जगहों पर 'अहिंसा प्रशिक्षण केंद्रों' की स्थापना हुई है। इन प्रशिक्षण केंद्रों पर जीवन विज्ञान द्वारा आंतरिक परिवर्तन, प्रेक्षा ध्यान, योग साधना, वैकल्पिक चिकित्सा, नशामुक्ति और भाव परिवर्तन के साथ स्वरोजगार शिक्षा के भी प्रयोग हुए हैं। सीमित अवधि और सीमित साधनों के द्वारा कुछ प्रशिक्षण केंद्रों की उपलब्ध जानकारी के अनुसार करीब 90 हजार व्यक्ति इन बहुआयामी प्रयोगों से लाभान्वित हुए हैं। वैयक्तिक क्षमता के विकास की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण और सार्थक पहल है।

संपन्नता और सुख के साथ शांति का वातावरण विकास का अनिवार्य तत्त्व है। मानव सभ्यता के पिछले 200 वर्ष आर्थिक समृद्धि के रहे हैं। लेकिन इन वर्षों ने युद्धों की भयंकर विभीषिका भी देखी है। इन वर्षों में विश्व में वस्तुओं का उत्पादन जनसंख्या वृद्धि का करीब-करीब दुगुना रहा है। शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी व्यापक सुधार हुआ है। किंतु इन वर्षों में—विशेषकर पिछले पांच दशकों में—आर्थिक विषमता में भी इजाफा हुआ है। गरीब और अमीर देशों तथा गरीब और अमीर व्यक्तियों के बीच की खाई कुछ ज्यादा ही गहरी हो गई है। 'यू. एन. डी. पी.' के नवीनतम आंकड़ों के अनुसार संसार के सबसे अमीर और सबसे गरीब 20 प्रतिशत व्यक्तियों की आय का अनुपात 20:1 तक पहुंच गया है और यह निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। अमीर एवं गरीब व्यक्तियों तथा अमीर और गरीब देशों—इन दोनों ही स्तरों पर आर्थिक विषमता अपने चरम पर है। इस आर्थिक विषमता ने व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समुदाय और समुदाय-समुदाय के बीच अविश्वास और अशांति को जन्म दिया है।

भगवान महावीर के अनुसार इस विश्व में अशांति और विषमता का मूल है—परिग्रह और प्रदर्शन की मनोवृत्ति। परिग्रह के प्रति आकर्षण होना, परिग्रह के प्रति आसक्ति होना और परिग्रह के साथ ममकार का जुड़ जाना—मोहनीय कर्म का, पाप कर्म का उदय होना है। व्यक्ति एवं समुदाय में एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने और दिखने की लालसा परिग्रह और प्रदर्शन को पोषित करती है। यह न केवल आपसी द्वेष और वैमनष्य को ही जन्म देती है, आर्थिक और अन्य विषमताओं को और भी ज्यादा असहनीय बना देती है। इसीलिए महावीर ने अपरिग्रह पर जितना बल दिया, उतना किसी और पर नहीं दिया और न ही किसी और ने। क्योंकि अपरिग्रह ही तो है—सामाजिक और आर्थिक सहिष्णुता का एक प्रमुख घटक। परिग्रह और लालसा को महावीर पुण्य का नहीं, पाप का ही हेतु मानते हैं।

यह एक सर्वमान्य बात है कि प्रकृति-जनित विषमता बहुत ज्यादा नहीं होती। एक मिट्टी खोदने वाले मजदूर और एक दार्शनिक में जन्म के समय में कोई ज्यादा फर्क नहीं होता। प्रशिक्षण और वातावरण के प्रभाव से इनमें धीरे-धीरे विषमता आने लगती है। आय की न्यूनता/अधिकता—जिससे यह प्रशिक्षण एवं वातावरण प्रभावित होते हैं—इस विषमता को बढ़ाने का कार्य करती है। अगर प्रशिक्षण और वातावरण को आय की न्यूनता/अधिकता के प्रभाव से बचाया जा सके तो प्रकृति-जनित विषमता वहीं तक सीमित रह सकती है। अतः विकास की सार्वकालिक और सर्वमान्य अवधारणा में वैयक्तिक क्षमता के विकास में इस प्रभाव की अनदेखी नहीं की जा सकती। क्षमता के विकास में आय की अहम भूमिका है—इसे भी नकारा नहीं जा सकता, किंतु प्रशिक्षण और वातावरण-परिवर्तन तथा नैतिकता के समावेश के बिना क्षमता का यह विकास भी अस्थाई ही हो सकता है।

आर्थिक संपन्नता को विकास का पर्याय समझने में कुछ और भी कठिनाइयां हैं। वर्तमान संदर्भ में देखें तो यह संपन्नता भी नैतिकता के अभाव में मानसिक तनाव, पारिवारिक विघटन और डर का कारण बन रही है। महावीर ने इसीलिए विकास की अवधारणा में उपभोग के संयम को भी शामिल किया था। संपन्न व्यक्तियों का उपभोग पर संयम न केवल कमजोर वर्ग के लिए अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध करवा सकता है, आर्थिक समन्वय के संस्थागत ढांचे की प्रक्रियाओं को भी उपभोग एवं उत्पादन की सही प्राथमिकताएं तय करने में मदद करता है। उपभोग का यह संयम स्वैच्छिक हो—महावीर ने इस प्रकार की अनुशंसा की थी। आचार्य तुलसी के कथन के अनुसार यह 'अपने पर अपना अनुशासन' है, जो स्वाभावतः स्थाई है। महावीर की आचार संहिता में 'इच्छा-परिमाण' शब्द है। अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह और इच्छा-परिमाण—महावीर के दर्शन के ये तीन ऐसे शब्द हैं, जो विकास की सही अवधारणा को व्यक्त करते हैं। इस दर्शन में निहित है—वर्तमान इच्छाओं और भविष्य की आकांक्षाओं का समन्वय और पर्यावरण की दृष्टि से निर्बाध विकास, जिनकी आज की और भविष्य की पीढ़ी को जरूरत है। यहां इतिहासविद् श्री गोविंदचंद्र पांडे के इस कथन को उद्धृत करना भी समीचीन होगा जिसमें उन्होंने कहा था—'भारतीय समाज के समक्ष जो परिवर्तन की चुनौती मुख्य रूप से है—वह नए वैज्ञानिक, प्राविधिक और औद्योगिक साधनों के उपयोग की है। किंतु यह परिवर्तन न तो अपने-आप में बुनियादी मूल्यों में परिवर्तन है, न आध्यात्मिक साधनों में। यह आधिभौतिक अभावों को दूर करने की दिशा में नई क्षमता है। अतः इस नई क्रांति का सही दृष्टि से स्वीकरण भारतीय संस्कृति में परिभाषित समाज का प्रगतिशील रूपांतरण ही होगा।' इसमें आर्थिक संपन्नता के साथ सार्वकालिक मानव-मूल्यों का भी समन्वय है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी कहते हैं—'जब-जब मनुष्य की जीवन-शैली आवश्यकता और उपयोगिता से हटकर आसक्ति एवं सुविधावाद से प्रभावित हुई है, समाज ने संकट के क्षणों का अनुभव किया है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी संतुलित विकास की अवधारणा पर बल देते हैं। उन्होंने इसके चार आयाम भी बताए हैं। ये हैं—

1. आर्थिक एवं पदार्थ का विकास
2. पर्यावरण की चेतना का विकास
3. नैतिक मूल्यों का विकास
4. आध्यात्मिक चेतना का विकास

जैन दर्शन आर्थिक एवं पदार्थ के विकास के प्रति कभी भी उदासीन नहीं रहा है। किंतु इसमें आर्थिक विकास के साथ-साथ समुदाय एवं व्यक्ति की इच्छाओं और आकांक्षाओं में समन्वय, उपार्जन में साधनों की शुद्धि और उपभोग में संयम अथवा इच्छा-परिमाण, आजीविका-विच्छेद की नीतियों का निषेध और स्वाभिमान के साथ

आजीविका को आवश्यक बताया है। यह एक समतामूलक आर्थिक संरचना की परिकल्पना है, जिसमें वैयक्तिक क्षमताओं के विकास को प्राथमिकता दी गई है। इसमें व्यक्ति का केवल उत्पादक अथवा उपभोक्ता के रूप में मूल्यांकन नहीं है। आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ ने भी कहा था—'यह मानना तो असंभव लगता है कि व्यक्ति के गुणों को सराहते समय भी हम उसी प्रकार व्यवहार करेंगे, जैसे किसी सुविधाजनक या अच्छी तरह से सुसज्जित भवन की सराहना में करते हैं, या हम मनुष्य की प्रशंसा उन्हीं कारणों से प्रभावित होकर करते हैं, जैसे किसी आलमारी के दराज को अच्छा बताया जाता है।' वैयक्तिक क्षमताएं विकास की अवधारणा का केंद्र हैं और सुख, शांति, संपन्नता और समन्वय के बिना ये सर्वोत्तम समाधान नहीं बनतीं। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

जिस समाज में व्यक्ति या समूह को सामाजिक संसाधनों के भेदभावपूर्ण मूल्यों के कारण क्षति होती है या समाज-व्यवस्था के सामान्य क्रियाकलापों से क्षति होती है उसे हम संरचनात्मक हिंसा कहते हैं। गाल्टुंग ने संरचनात्मक हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है—हिंसा के दो प्रकार हैं—एक वह, जिसका कोई कर्ता है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा करता है। दूसरा वह, जहां ऐसा कोई कर्ता नहीं है, उसे संरचनात्मक हिंसा कहते हैं। संरचनात्मक हिंसा सभी जटिल और विशेष समाजों में कुछ-न-कुछ अवश्य रहती है।

संरचनात्मक हिंसा को कुछ चिंतक संसाधन, शिक्षा, आय, स्वास्थ्य आदि के असमान वितरण के रूप में देखते हैं, जबकि कुछ इसे स्वाभाविक मानते हैं। कोहलर के अनुसार धन-संपदा से केवल उच्च जीवन-स्तर ही नहीं, जीवन भी खरीदा जा सकता है, इसलिए उसका असमान वितरण संरचनात्मक हिंसा को बढ़ावा देता है।

संरचनात्मक हिंसा : कुछ पहलू

डॉ. बच्छराज दूगड़

संरचनात्मक हिंसा का विचार कुछ नया है। इस विचार की आवश्यकता इसलिए है कि वस्तुनिष्ठवादियों और आत्मनिष्ठवादियों के हिंसा के प्रकारों और वर्गीकरणों में ये विचार समाहित नहीं होते। शांति और संघर्ष शोध में अभी भी संरचनात्मक हिंसा का विचार विवादास्पद है। वस्तुनिष्ठवादी अभी भी परंपरागत शांति के विचारों को मान्यता देते हैं। हिंसक संघर्षों के समाधान के लिए वे अपनी भूमिका एक सहायक के रूप में ही सीमित रखते हैं। आत्मनिष्ठवादियों के अनुसार समाज में संघर्ष का अस्तित्व है और ऐसी स्थिति से प्रभावित व्यक्तियों को वह प्रतीत भी होना चाहिए। उनका यह विश्वास है कि सामाजिक कर्ताओं के द्वारा उन विरोधी लक्ष्यों का अनुभव आवश्यक है, जिनके कारण संघर्ष पैदा होते हैं अर्थात् संघर्ष की अनुभूति समाज के विभिन्न अंगों या उसके सदस्यों को होनी आवश्यक है। अतः आत्मनिष्ठवादियों के अनुसार समाज में संघर्ष का अस्तित्व है, उसकी अनुभूति लोगों को होनी चाहिए। यदि ऐसी अनुभूति नहीं होती है तो उसका तात्पर्य यही होगा कि संघर्ष का अस्तित्व ही नहीं है। इसके विपरीत वस्तुनिष्ठ-वादियों का यह मानना है कि संघर्ष का अस्तित्व समाज में है और रहेगा, भले ही उसकी अनुभूति हमें नहीं होती हो। वस्तुनिष्ठवादियों के लिए संघर्ष एक वस्तुनिष्ठ घटक है, जिसके अस्तित्व के लिए किसी के द्वारा उसका अनुभव किया जाना आवश्यक नहीं है। इनके अनुसार संघर्ष मूलतः हितों का संघर्ष है। ये हित विषयनिष्ठता पर आधारित नहीं हैं, अपितु सामाजिक संरचना के आधार पर निर्धारित होते हैं। दूसरे शब्दों में संघर्ष विरोधी हित हैं जो समाज की संरचना द्वारा निर्मित होते हैं। वस्तुनिष्ठवादियों की यह विचारधारा हमें मार्क्सवादियों के समान लगती है और जो तर्क मार्क्सवादियों के विरुद्ध दिए जाते हैं, लगभग वे ही तर्क वस्तुनिष्ठवादियों के विरुद्ध भी दिए जा सकते हैं।

एडम कर्ले, जो एक शांतिवादी मध्यस्थ हैं, के अनुसार शांतिपूर्ण समाज के साथ-साथ संघर्षरत और अशांतिपूर्ण समाज भी विद्यमान हैं। ये ऐसे समाज हैं, जहां व्यवहार पर आधारित हिंसा नहीं है, किंतु समुदायों में असमानता है एवं आर्थिक-सामाजिक असमानताओं के कारण हिंसा है। यहां जब हिंसा का कर्ता स्पष्ट नहीं है तो वस्तुनिष्ठता कैसे सिद्ध हो? अतः ऐसी स्थिति में संरचनात्मक हिंसा की बात सामने आती है।

जिस समाज में व्यक्ति या समूह को सामाजिक संसाधनों के भेदभावपूर्ण मूल्यों के कारण क्षति होती है या समाज-व्यवस्था के सामान्य क्रियाकलापों से क्षति होती है उसे हम संरचनात्मक हिंसा कहते हैं। गाल्टुंग ने संरचनात्मक हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है—हिंसा के दो प्रकार हैं—एक वह, जिसका कोई कर्ता है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा करता है। दूसरा वह, जहां ऐसा कोई कर्ता नहीं है, उसे संरचनात्मक हिंसा कहते हैं। संरचनात्मक हिंसा सभी जटिल और विशेष समाजों में कुछ-न-कुछ अवश्य रहती है। समाज में विद्यमान अच्छाइयों और बुराइयों का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, वह शारीरिक और मानसिक रूप से प्रभावित भी होता है। इससे उसे शारीरिक एवं मानसिक क्षति भी हो सकती है।

संरचनात्मक हिंसा को कुछ चिंतक संसाधन, शिक्षा, आय, स्वास्थ्य आदि के असमान वितरण के रूप में देखते हैं, जबकि कुछ इसे स्वाभाविक मानते हैं। कोहलर के अनुसार धन-संपदा से केवल उच्च जीवन-स्तर ही नहीं, जीवन भी खरीदा जा सकता है, इसलिए उसका असमान वितरण संरचनात्मक हिंसा को बढ़ावा देता है।

संरचनात्मक हिंसा का विचार वर्तमान में प्रायः सभी लोगों को आकर्षित करता है, किंतु इस विचार का प्रयोग अत्यंत सावधानीपूर्वक करना आवश्यक है। प्रथमतः यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि जिन इकाइयों का अध्ययन किया जा रहा है, उन तुलनात्मक इकाइयों पर संरचनात्मक हिंसा कितनी निर्भर करती है। उदाहरणतः गरीब और विकासशील राष्ट्रों में वर्गों की तुलना की जाए तो वहां संरचनात्मक हिंसा समृद्ध और विकसित राष्ट्रों की तुलना में कम होगी। द्वितीय कारण के रूप में यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी प्रकार की विषमता और उसके कारण संरचनात्मक हिंसा समूहों के बीच संबंधों की प्रकृति के फलस्वरूप है। पर यदि संरचनात्मक हिंसा विद्यमान है तो वहां विषमता समूहों के बीच संबंधों की प्रकृति के कारण होनी ही चाहिए और यदि ऐसा नहीं है तो संरचनात्मक हिंसा भी नहीं होगी।

संबंधों में असमानता का प्रमुख कारण यह माना जाता है कि प्राकृतिक संसाधनों का वितरण भेदभावपूर्ण है तथा विश्व-व्यवस्था ऐसी है कि ये संसाधन अमीर राष्ट्रों को अधिक लाभ दे रहे हैं, गरीब राष्ट्रों को कम। तृतीयतः संरचनात्मक हिंसा को उन कारणों के लिए भेदभावपूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए, जिन्हें हम पसंद नहीं करते हैं—जैसे महिला आंदोलनों का आधार स्त्री-पुरुष की असमानता है और ये आंदोलन आज महिलाओं को संरचनात्मक हिंसा से पीड़ित मानते हैं। जबकि स्त्री और पुरुष—दोनों को जीने के अवसर समान हैं। वस्तुनिष्ठवादियों की आलोचना शांति शोधकर्ताओं की शोध-प्रक्रिया के विरोध पर भी आधारित है। उनका मानना है—शांतिकर्मी विवाद का निपटारा तो करवा देते हैं, किंतु दोनों पक्षों के बीच संरचनात्मक संबंधों को नहीं बदलते। इससे दोनों पक्षों में विषमता बनी रहती है। जैसे कर्मचारियों और प्रबंधकों के बीच वेतन को लेकर विवाद। एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि संरचनात्मक संबंधों में सुधार के लिए एक विशेष ढांचे को स्वीकार किए बिना मध्यस्थ की भूमिका महत्त्वपूर्ण नहीं रहती। इसलिए वस्तुनिष्ठवादी कहते हैं कि शांति-शोध मूलतः निषेधात्मक शांति पर बल देता है, भावात्मक शांति पर नहीं। निषेधात्मक शांति वहां है जहां व्यवहारात्मक हिंसा नहीं है, किंतु जहां संबंध अशांतिपूर्ण होते हैं—इसे हम संरचनात्मक हिंसा भी कह सकते हैं। भावात्मक शांति पक्षों के बीच सामंजस्यपूर्ण संबंध हैं तथा वे परस्पर विकास और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तत्पर रहते हैं। भावनात्मक शांति लाने का तात्पर्य है—संरचनात्मक हिंसा का अंत अथवा सामाजिक संबंधों में संरचनात्मक परिवर्तन।

वस्तुनिष्ठवादियों के विचार आलोचना से परे नहीं हैं। वे संघर्ष के विचार को असमानता से जोड़ते हैं, जबकि आत्मनिष्ठवादी संघर्ष और असमानता को अलग-अलग देखते हैं। वस्तुनिष्ठवादी ऐसे संघर्षों को भी देख लेते हैं जो कर्ता द्वारा नहीं देखे जाते। इसलिए वे सामाजिक वास्तविकताओं को अपने मूल्यों के चश्मे से देखते हैं। यदि द्रष्टा के पूर्व अवलोकित मूल्यों में परिवर्तन आ जाएगा तो संघर्ष भी बदल जाएगा। आत्मनिष्ठवादी संघर्ष को एक सामाजिक स्थिति में कर्ता द्वारा प्राप्त लक्ष्यों में विरोध की 'डिग्री' के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार संघर्ष वह स्थिति है, जहां एक व्यक्ति या समूह के मूल्यों और लक्ष्यों के बीच वास्तविक विरोध मौजूद है, किंतु संबंधित पक्ष वास्तविक रूप से इस तथ्य के प्रति सचेत नहीं होते। वस्तुनिष्ठवादी भावात्मक शांति के लिए संघर्षों को बढ़ाने पर भी कभी-कभी बल देते हैं, जबकि आत्मनिष्ठवादी ऐसा नहीं करते। यहां यही कहा जा सकता है कि यदि दो पक्षों के बीच संघर्ष को नहीं निपटाया जा सकता हो तो

उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है। जैसे प्रभुत्व वाले वर्ग—जो अच्छे भोजन, पोषण तथा चिकित्सा सुविधाओं आदि के कारण लंबा जीवन बिताते हैं, जबकि सहायक वर्ग कम आयु का जीवन। यह बहुत-से देशों की स्थिति है। संरचनात्मक हिंसा से अधिक लोगों को नुकसान पहुंचता है, तो ऐसी स्थिति में संघर्ष को उकसाना अधिक ठीक है जो अंततः व्यवहारात्मक हिंसा में परिणत हो जाएगा और काफी संख्या में लोग मारे जाएंगे। क्या वस्तुनिष्ठवादियों के इस नजरिए को स्वीकार किया जा सकता है? धर्मयुद्ध का सिद्धांत भी लगभग ऐसा ही है। ऐसा तभी मान्य हो सकता है जब पूरी जानकारी और सुनिश्चित परिणाम की आशा के साथ संसाधनों की असमानता को दूर करने के लिए ऐसा किया गया हो। यदि ऐसा नहीं है तो व्यवहारात्मक हिंसा संरचनात्मक हिंसा की स्थिति को ठीक नहीं करेगी। सफलता की तर्कसंगत प्रत्याशा अत्यंत आवश्यक है, जबकि समाजशास्त्री परिणामों के प्रति सही पूर्वानुमान नहीं कर पाते। शांति-शोधकर्ताओं का क्रांति के पश्चात् के सामाजिक ढांचे पर नियंत्रण नहीं होता। ऐसी स्थिति में संरचनात्मक हिंसा की समाप्ति के लिए व्यवहारात्मक हिंसा को स्वीकृति नहीं दी जा सकती। और अंततः आत्मनिष्ठवादियों का तर्क अधिक उचित लगता है कि संघर्षों का उचित, न्यायपूर्ण साधनों से ही निपटारा करना चाहिए।

❖

भारतीय संस्कृति पर कुछ कहने से पहले मैं यह निवेदन कर देना कर्तव्य समझता हूं कि मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परंपराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान मानवी संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। यह संस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है तथापि यह अस्पष्ट रूप में ही समझा जाता है। इसकी सर्वसम्मत कोई परिभाषा नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। फिर इसको एकदम अस्पष्ट भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति हैं। इसकी अस्पष्टता का कारण यही है कि अब भी मनुष्य इसके संपूर्ण और व्यापक रूप को देख नहीं सका है। संसार के सभी महान तत्त्व इसी प्रकार मानव-चित्त में अस्पष्ट रूप से आभासित होते हैं। उनका आभासित होना ही उनकी सत्ता का प्रमाण है। मनुष्य की श्रेष्ठतर मान्यताएं केवल अनुभूत होकर ही अपनी महिमा सूचित करती हैं। उनको स्पष्ट और सुव्यवस्थित परिभाषा में बांधना सब समय संभव नहीं होता। केवल नेति-नेति कहकर ही मनुष्य ने उस अनुभूति को प्रकाशित किया है। अपनी चरम सत्यानुभूति को प्रकट करते समय कबीरदास ने इसी प्रकार की विवशता का अनुभव करते हुए कहा था—'ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कहीं अनूठा लो!' मनुष्य की सामान्य संस्कृति भी बहुत-कुछ ऐसी ही अनूठी वस्तु है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

❑ *अहिंसा-शास्त्र और शांति शोध को प्रारंभ से अनिवार्य रूप से पाठ्यक्रमों में स्थान देना एवं एन.सी.सी. के विकल्प में शांति-सेना या अहिंसा-वाहिनी को प्रतिष्ठित करने जैसा सोच उभरता ही नहीं। बच्चों के खिलौनों में बंदूक-तोप, सैनिक पोशाक की मनाही भी नहीं कर पाते। समाज में स्त्री-उत्पीड़न, दहेज-दाह, जाति-पांति आदि सामाजिक कुरीतियों को हिंसा मानते ही नहीं और व्यर्थ के मुद्दों में फंसे रहते हैं। जब समाज, शिक्षा, संस्कृति, राजनीति आदि—सभी हिंसाधारित हैं तो फिर अहिंसक-जीवन के लिए स्थान ही कहां बचता है? अंतर्मुखता और व्यर्थ के कर्मकांड पर हम जितना बल देते हैं, समाज की संरचनात्मक हिंसा पर नहीं। बल्कि धार्मिक स्थानों एवं धार्मिक त्योहारों में भ्रष्ट से भ्रष्ट एवं हिंसा-समर्थक राजनेताओं को उच्च आसन देकर सम्मानित करते हैं। सम्मान पाने वालों में दूसरा स्थान धनपतियों का आता है जो इन धार्मिक प्रतिष्ठानों एवं समारोहों के दाता हैं*

अहिंसक अभियानों की नियति

❑ डॉ. रामजीसिंह

'अहिंसा परमो धर्मः' के उच्चार को सदियों-सदियों से मंत्र-जाप की तरह दुहराते रहने वाले इस देश में हिंसा और हत्या, अपहरण और बलात्कार तथा जिंदा जलाने की घटनाओं में लगातार बढ़ोतरी क्यों हो रही है? यह एक ज्वलंत प्रश्न है और समाजशास्त्रियों के लिए गहन विचारणीय कि अहिंसा के समस्त उच्चार एवं प्रचार, आंदोलन और अभियान इन घटनाओं के सामने क्या निस्तेज नहीं दिखाई पड़ते? हम अपने बचाव में शायद एक लंगड़ा तर्क यही दे सकते हैं कि यदि अहिंसा-विचार के प्रचार और उसके अभियान नहीं हुए होते तो हिंसा और भी अधिक घनीभूत होती। इसका अर्थ यह हुआ कि अहिंसा के प्रचार या अभियान में ही कोई मौलिक दोष है या अहिंसक समाज-स्थापना के लिए कुछ भिन्न दृष्टि अपनानी होगी।

चाहे नैतिक बनने का प्रश्न हो या अहिंसक होने का, एक मूल प्रश्न उठता है कि 'हम नैतिक क्यों बनें?' 'हम अहिंसक क्यों हों?' यह नीतिशास्त्र का नहीं अधिनीतिशास्त्र का विषय है। यह विषय का सरलीकरण नहीं, अपितु इसे गंभीरता से देखना है। लोकनायक जयप्रकाशनारायण ने जब कहा था—'भौतिकवाद से साधुता (नैतिकता) को प्रेरणा नहीं मिल सकती'—तो लोगों ने उपालंभ दिया था कि जे. पी. शायद राजनीति से पराजित होकर एक पलायन-वृत्ति का सहारा ले रहे हैं। लेकिन आज तो सारे राजनीतिक 'वाद' इस 'विवाद' में उलझ गए हैं, क्योंकि 'सिद्धांतों का अंत' हो गया दीखता है। भारतीय राजनीतिक दलों को छोड़िए, अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर चमकने वाले राजनीतिक वादों और सिद्धांतों में गुणात्मक अंतर प्रायः मिटता जा रहा है। लगता है कि वैश्वीकरण ही नया विश्व-धर्म बन गया है। आज हम जिस स्वर में भौतिकवाद की निंदा करना चाहते हैं—उससे हम, हमारा पंथ, हमारा संप्रदाय, हमारी संस्थाएं बहुत दूर तक प्रभावित हैं। लगता है कि 'जगत्-गुरु' का दंभ भरने वाला यह भारत आज पाश्चात्य जगत् से कहीं अधिक भौतिकवादी बनता जा रहा है। पाश्चात्य जगत् में दूध, दवा, अन्न आदि में मिलावट होना सुना ही नहीं जाता। परीक्षाओं में कदाचार, चुनावों में अप-साधनों का खुल्लम-खुल्ला प्रयोग, वोटों की छीना-झपटी, खरीद-बिक्री, छोटे-मोटे छीन-छोर इस प्रकार देखने में नहीं आते। फिर भी हमें लज्जा नहीं आती कि हम अपने धर्म-प्रचारकों को बाहर

भेजने में अपनी शान मानते हैं। जहां तक हिंसा-शमन की बात है, उसमें भी हम कहां हैं? आपराधिक हिंसा को तो छोड़िए, नागरिक हिंसा और प्रत्युत्तर में राज्य की हिंसा क्यों बढ़ रही है? क्या समाज में जातिगत हिंसा, सांप्रदायिक नरसंहार, भाषाई पागलपन आदि नहीं बढ़ रहे हैं? क्या अहिंसा के अभियान से देश के स्तर पर इसमें कमी आई है? इससे तो बेहतर हम नक्सलियों की क्रांतिकारी हिंसा को मानते हैं, जो खुले आम हिंसा को स्वीकार तो करते हैं। जबकि हमारी धार्मिक-सांस्कृतिक संस्थाएं 'अहिंसा परमो धर्मः' का उच्चार तो करती हैं, लेकिन समाज की संरचनात्मक हिंसा पर उनका प्रहार या तो होता ही नहीं या केवल स्पर्शवत होता है। शायद वे स्वयं समाज की संरचनात्मक हिंसा के अंश हो जाते हैं। उनका सारा योगक्षेम, दान-कल्याण आदि उन्हीं से चलते हैं जो गर्हित से गर्हित शोषण या संग्रह के भोगी हैं। असल में हमने धर्म और जीवन-व्यवहार-व्यापार को अलग-अलग मान लिया है। प्रवचन सुनना, जप-तप और ध्यान आदि अलग हैं। व्यापार एवं अशुद्धि, मुनाफाखोरी, कालाबाजारी अलग हैं। दोनों, जो जितना ही अलग-अलग कर चलाते हैं—वे समाज में अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं। आदर्श एवं व्यवहार, धर्म और कर्म का यह द्वैत ही वह बड़ा कारण है जिससे नैतिकता और अहिंसा के अभियान में तेजस्विता नहीं आती है।

अहिंसा व्यक्तिगत आचरण का जितना विषय है, उससे अधिक वह सामाजिक है। व्यक्तिगत जीवन में निरामिष आहार और सामाजिक जीवन में शोषण, भ्रष्टाचार, आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थसिद्धि के लिए अनैतिक उपायों का अवलंबन आत्मविरोधी हैं। यह हमारा व्यवहार-धर्म बन गया है, जिसके कारण हम प्रचलित अन्याय, उत्पीड़न, अनाचार आदि को स्वीकार कर लेते हैं, जैसे युद्ध को हम महिमामंडित करते हैं। सरदार भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद आदि वीरों की देशभक्ति को नहीं, बल्कि उनके द्वारा हिंसा और आतंकवाद को गरिमामय बनाते हैं। भारत ने परमाणु बम का विस्फोट किया, इससे सामान्य भारतवासी भी गौरव का अनुभव करने लगे। हमने वर्तमान राष्ट्रपतिजी को नम्रता, अद्वितीय सज्जनता एवं अनौपचारिक सहृदयता के लिए नहीं, वरन युद्धास्त्रों के आविष्कारक के रूप में वरेण्य माना। जिस समय परमाणु बम का विस्फोट हुआ, तब हिंदुओं की शांति, बौद्धों की करुणा एवं जैनों की अहिंसा का स्वर सुनाई नहीं पड़ा। जबकि पाश्चात्य जगत् में युद्ध-विरोधी एवं अनिवार्य सैनिक सेवा के विरोध के लिए अनेक शांतिवादी जन जेल चले जाते रहे हैं, लेकिन हमारे देश में शांति और अहिंसा के पुरोधा इसके विरुद्ध खुलकर एक वक्तव्य देते हुए भी कतराते हैं। सस्ती अस्वस्थ लोक-भावना के सामने धर्म का मेरुदंड सीधा ही नहीं हो पाता। शिक्षण संस्थाओं में सैनिक पाठ्यक्रम या सैनिक-प्रशिक्षण (एन.सी.सी. अथवा ए.सी.सी.) की आलोचना अहिंसा के पुरोधाओं के मुख से सुनाई नहीं पड़ती।

अहिंसा-शास्त्र और शांति-शोध को प्रारंभ से अनिवार्य रूप से पाठ्यक्रमों में स्थान देना एवं एन.सी.सी. के विकल्प में शांति-सेना या अहिंसा-वाहिनी को प्रतिष्ठित करने जैसा सोच उभरता ही नहीं। बच्चों के खिलौनों में बंदूक-तोप, सैनिक पोशाक की मनाही भी नहीं कर पाते। समाज में स्त्री-उत्पीड़न, दहेज-दाह, जाति-पांति आदि सामाजिक कुरीतियों को हिंसा मानते ही नहीं और व्यर्थ के मुद्दों में फंसे रहते हैं। जब समाज, शिक्षा, संस्कृति, राजनीति आदि—सभी हिंसाधारित हैं तो फिर अहिंसक जीवन के लिए स्थान ही कहां बचता है? अंतर्मुखता और व्यर्थ के कर्मकांड पर हम जितना बल देते हैं, समाज की संरचनात्मक हिंसा पर नहीं। बल्कि धार्मिक स्थानों एवं धार्मिक त्योहारों में भ्रष्ट से भ्रष्ट एवं हिंसा-समर्थक राजनेताओं को उच्च आसन देकर सम्मानित करते हैं। सम्मान पाने वालों में दूसरा स्थान धनपतियों का आता है जो इन धार्मिक प्रतिष्ठानों एवं समारोहों के दाता हैं—'अर्थस्य पुरुषो दासो।'

अहिंसा-शक्ति के क्षरण का एक और कारण है कि हम अध्यात्म और अहिंसा का समन्वय नहीं कर पाए हैं। प्रतीक भी हमने उसी विरोधात्मक तरह से बनाए हैं। राम के हाथ में धनुष-बाण, विष्णु और कृष्ण के हाथों में सुदर्शन चक्र, काली, दुर्गा आदि के हाथों में सब भांति के आयुध हैं। इससे हिंसा-शक्ति ही प्रतिष्ठित होती है। अध्यात्म से अहिंसा का समन्वय नहीं बिठा पाते। वरना बलि प्रथा नहीं चलती, धार्मिक युद्ध नहीं होते, कर्मकांड एवं अंधविश्वास नहीं बढ़ते। आज तो उच्चतम धर्मपीठों में भी सम्पत्ति-अर्जन एवं सत्तापीठों के लिए घृणित कलह हो रहे हैं। एक-एक धर्मसंघ विभाजित हो रहा है। धर्मसंघों में जहां-तहां अनुशासन के नाम पर एकछत्रवाद बढ़ रहा है। 'हमारा ही धर्म या धर्मसंघ श्रेष्ठ है, केवल इसी के द्वारा मुक्ति संभव है'—यह एक प्रकार का धार्मिक फासीवाद है। यह एक

प्रकार का सैनिकीकरण है, यह अध्यात्म नहीं हो सकता। इस प्रकार की भ्रमित अवधारणाओं से भी हिंसा बढ़ती है। इसीलिए तो 'व्यक्तिगत धर्म' के बदले 'विश्व-धर्म (स्वामी विवेकानंद)', 'सांप्रदायिक धर्म' के बदले 'मानव-धर्म' (रवींद्रनाथ ठाकुर) एवं केवल अपने 'संप्रदाय' के बदले 'सर्व-धर्म-समभाव' (गांधी-विनोबा) का विचार-आचार रखा। आज तो राजनीति की तरह ही धार्मिक वर्चस्व की अस्वस्थ प्रतियोगिता से 'धर्म-परिवर्तन' की हिंसा प्रकट होती है। जिस प्रकार राजनीति में साम्राज्य का विस्तार होता है, उसी प्रकार धर्म-परिवर्तन के माध्यम से अपने धर्मसंघ के सदस्यों की संख्या-विस्तार का भी प्रलोभन होता है। फिर तो धार्मिक कलह एवं हिंसा अपरिहार्य हैं। स्वेच्छा से और परिपक्व होकर व्यक्ति जिस आस्था और विश्वास को धारण करना चाहता है, उसमें कोई हर्ज नहीं। लेकिन बल, छल एवं लोभ-लाभ से धर्म-परिवर्तन धर्म का अपमान है। शिक्षण-प्रशिक्षण हो, लेकिन किसी खास खूंटे से बांध देना मानव-स्वातंत्र्य के साथ खिलवाड़ है। इससे भी समाज में हिंसा के बीज उगते हैं। असल में स्थूल हिंसा सूक्ष्म हिंसा की सन्तान है। अभाव और अन्याय, विषमता और बेकारी हिंसा को जन्म ही नहीं देते, उसे संबंधित भी करते हैं। अतः जब तक इनके प्रतिकार का पराक्रम प्रकट नहीं होगा तो मात्र नैतिकता की रट से अहिंसा तेजस्विनी नहीं हो सकती है। गांधी जैसे संत को इसलिए सत्याग्रह का वरण करना पड़ा। सत्य का प्रवचन कम और आचरण ज्यादा और उससे भी अधिक सत्य के लिए संघर्ष जरूरी है। इसी प्रकार अहिंसा पर प्रवचन कम, अहिंसा की साधना अधिक और अहिंसक संघर्ष आजीवन आवश्यक हैं। अहिंसा को केवल व्यक्तिगत जीवन की चीज बनाने से वह सुंदर हो सकती है, तेजस्विनी नहीं। जब तक अहिंसक समाज-व्यवस्था, अहिंसक राजनीति, अहिंसक अर्थव्यवस्था एवं अहिंसक शिक्षा-संस्कृति के लिए निष्ठुर संघर्ष नहीं होगा, अहिंसा का तेज प्रकट नहीं होगा। संगठनों में भी जब तक सैनिकीकरण, ऊपर का अनुशासन, एकछत्र शासन रहेगा—वह संगठन भी अहिंसक नहीं हो सकेगा। संगठन तो अहिंसा की कसौटी है।

विनोबा ने तंत्र-मुक्ति की बात रखी थी, सर्वसम्मति से निर्णय का प्रावधान किया, गण-सेवकत्व की बात की। ब्रह्म विद्या मंदिर, पवनार में आज न कोई अध्यक्ष, न मंत्री, न ऊपर का कोई नियम है। न कोई नियम-निर्धारक। सह-चिंतन, सह-चित्त, समान हृदय, समान विचार ही वहां के संगठन का सूत्र है।

अहिंसा की तेजस्विता के लिए अब महावीर, गांधी या ईसामसीह नहीं आएंगे। लेकिन अहिंसा इतनी प्रासंगिक बन गई है कि छोटे-छोटे गुमनाम व्यक्ति, संगठन इसको शक्ति प्रदान कर सकते हैं। इन छोटे मोतियों को ढूंढ़ना और ढूंढ़कर उनकी माला पिरोने का काम अहिंसा-पुरोहितों का है। अहिंसा का वर्तमान जितना ही अधिक अंधकारमय है, उसका भविष्य उतना ही उज्ज्वल है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

अनुभूति

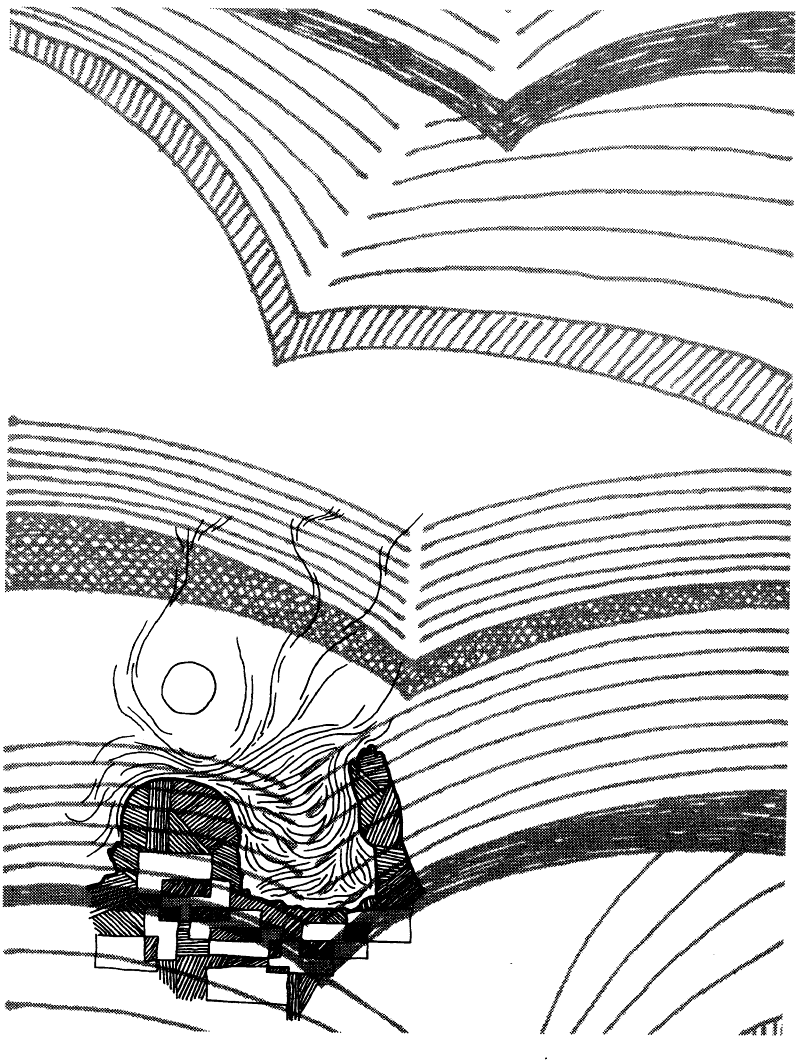

दिन पर दिन बीतते गए
और मैंने तुम्हें प्रणाम करना भी छोड़ दिया
पर मुझे क्या मालूम था कि वह अस्वीकृति ही
अटूट बंधन बनकर
मेरी प्रणाम-बद्ध अंजलियों में, कलाइयों में इस
तरह
लिपट जाएगी कि कभी खुल ही नहीं पाएगी

—**धर्मवीर भारती**

❑
जिस किसी ने वास्तव में कभी धर्म की अनुभूति की हो, वह अपने उस पल का स्मरण करे, जिसे समाधि कहा जाता है और फिर बताए कि उस पल में निज-पर, अपना-पराया का भेद, विश्व की, यहां तक कि परमेश्वर की भी सुधि रहती है अथवा नहीं? वास्तविक समाधि या साक्षात्कार (प्रत्यक्ष दर्शन) की दशा में 'मैं' तथा 'तू' का पचड़ा—द्रष्टा तथा दृश्य की भिन्नता लुप्त हो जाते हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया गया कोई भी क्रमबद्ध प्रयत्न 'धर्म' कहलाता है।

❑

धर्म हमें क्या देता है

❑ स्वामी रामतीर्थ

हमारा आदि स्रोत क्या है? वह कौन-सी शक्ति है जिसके आदेश पर मन सोचता है, नेत्र देखते हैं, प्रकृति अपना कार्य करती है?

आदि स्रोत वह है जो मन, बुद्धि, चक्षुओं तथा ज्ञानेंद्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता परंतु मन, बुद्धि, चक्षु तथा ज्ञानेंद्रियों को अपने-अपने कार्य करने की प्रेरणा वही प्रदान करता है। वह हमारी अनुभूति अथवा चिंतन से समझ में आने वाला विषय नहीं है। वाणी, मन तथा बुद्धि उस पर विचार करते-करते घबराकर पीछे लौट आते हैं—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह—जिसका पार न पाकर वाणी मन-सहित लौट आती है।'

हमारे हाथ में एक चिमटा है। सब बाहरी चीजों को तो वह प्रायः पकड़ सकता है; परंतु क्या चिमटा लौटकर हमारे हाथ की उन अंगुलियों को पकड़ सकता है, जिन्होंने उस चिमटे को पकड़ा हुआ है? ठीक इसी प्रकार मन, बुद्धि या वाणी से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उस अविदित, अचिंत्य तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकें, जो कि स्वयं उनका आदि स्रोत है।

धर्म को हमें कर्मकांड से पृथक् करना होगा, धर्म तत्त्व से रूढ़ियों, रीति-रिवाजों को अलग करना होगा। धर्म एक आध्यात्मिक रहस्यात्मक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मन और बुद्धि बाहरी संसार से पीछे मुड़कर अविदित, अचिंत्य, अकथनीय आदि स्रोत में लीन हो जाते हैं। जिस समय कोई ईसाई उपासक अथवा मुसलमान परमात्मा की उपासना के लिए तत्पर होता है, तो उसके हाथ अपने-आप आकाश की ओर उठ जाते हैं। मानो वह ऊपर के, अपने से बाहर एवं भिन्न, किसी अविदित तत्त्व को पकड़ने का प्रयत्न कर रहा हो। इसके विपरीत, हिंदू जब भक्ति में अपने-आपको लय करता है, तो वह समाधि लगाकर बैठ जाता है, उसके नयन स्वाभाविक रूप में मुंद जाते हैं। इससे साफ सिद्ध होता है कि उसके लिए वह अज्ञात, अदृश्य तत्त्व उसके अपने अंदर है, जिसमें उसका मन तथा बुद्धि लय हो जाना चाहते हैं।

व्युत्पत्ति (शब्द-रचना) के अनुसार अंग्रेजी का रिलिजन शब्द re=back+ligare=to bind से बना है, जिसका अर्थ है—पीछे बांधना। धर्म मनुष्य को पीछे लौटाकर उसके आदि स्रोत से बांध देता है।

धर्म एक है, अनेक नहीं हैं। हिंदुत्व, इस्लाम और ईसाइयत में धर्म का वास्तविक तत्त्व एक ही है। यदि ध्यान से देखा जाए, तो धर्म का तात्पर्य है—उस अविदित, मन-बुद्धि-वाणी से अनुभव न होने योग्य तत्त्व का साक्षात्कार करना। वहां न जात-पांत है, न रंग-रूप, न मजहब और पंथ, न मत-मतांतर, न सिद्धांत-उपसिद्धांत, न मन-वाणी, न स्थान-समय की भिन्नता, न कार्य-कारण परंपरा, न इहलोक-परलोक—जहां ये सभी बातें लय (लुप्त) हो जाती हैं—जहां शब्द पहुंच नहीं सकता, उसी का अनुभव,

अथवा साक्षात्कार करना धर्म है। क्या इसमें कोई रहस्यमयता है? नहीं, तनिक भी नहीं।

जिस किसी ने वास्तव में कभी धर्म की अनुभूति की हो, वह अपने उस पल का स्मरण करे, जिसे समाधि कहा जाता है और फिर बताए कि उस पल में निज-पर, अपना-पराया का भेद, विश्व की, यहां तक कि परमेश्वर की भी सुधि रहती है अथवा नहीं?

वास्तविक समाधि या साक्षात्कार (प्रत्यक्ष दर्शन) की दशा में 'मैं' तथा 'तू' का पचड़ा—द्रष्टा तथा दृश्य की भिन्नता लुप्त हो जाते हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया गया कोई भी क्रमबद्ध प्रयत्न 'धर्म' कहलाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि इस प्रकार के रहस्य-भरे उद्देश्य को प्राप्त करने की आवश्यकता क्या है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज करने से पूर्व हमें सर्वप्रथम इसकी छानबीन करनी चाहिए कि मानव-हृदय को आकृष्ट करने वाले प्रमुख आदर्शों—उदाहरणतः ज्ञान, शौर्य, प्रेम इत्यादि की उपलब्धि सामान्यतः हमें किस प्रकार होती है।

ज्ञान—सामान्यतः हम ज्ञान से उन बातों को ग्रहण करते हैं, जो हमें बाहरी उपकरणों, जैसे ग्रंथों, अध्यापकों, उपदेशकों द्वारा प्राप्त होती हैं। उस व्यक्ति को हम महान विद्वान मानते हैं, जिसने अपने काल में प्राप्त प्रसिद्ध एवं विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों से अपने दिमाग को भर लिया हो। हमें अपनी अतीतकाल की सफलताओं (ग्रंथों) की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उनको पढ़ना चाहिए। तथापि वास्तविक शिक्षा का आरंभ उसी समय होता है, जब हम सब प्रकार के बाहरी उपकरणों की मदद छोड़कर अपने आंतरिक स्रोत की ओर आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार की अवस्था में नवीन से नवीन विचार हमारे अंतःकरण से प्रस्फुटित होने लगते हैं। मानो मौलिक ज्ञान-विज्ञान का नैसर्गिक (कुदरती) स्रोत प्रस्फुटित हो गया है। न्यूटन आदि—सत्य का अनुसंधान करने वाले व्यक्तियों—ने अगणित लाभकारी आविष्कार किए। वे सत्य, जो उनसे पूर्व मानव जाति को प्राप्त न थे, उन्होंने कहां से सीखे? किस गुरु से उन्होंने इनकी शिक्षा प्राप्त की? वास्तविक तथ्य तो यह है कि मानव जाति के उद्धारक इन महान व्यक्तियों की शिक्षा अथवा जिज्ञासा अज्ञातरूप में ही हमारी उस वास्तविक आत्मा तक जा पहुंची, केवल जिसके द्वारा ही अश्रुतपूर्व (जो पहले न सुना गया) सुना जाता है, अज्ञातपूर्व (जो पहले न जाना जा सका) जाना जाता है। उसके द्वारा आलोक स्वतः ही प्रस्फुटित होता है, उसके लिए जिसका मन एकांत एवं एकाग्र हो जाता है। जब व्यक्ति अपने क्षुद्र 'अहं'-भाव का विस्मरण करता है, उस समय उसे अपने शरीर, मन तथा बुद्धि का होश नहीं रहता। उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि उसका जगत्, अहं तथा उसका संपूर्ण विस्तार उस अविदित तथा अचिंत्य परम तत्त्व में लय हो जाता है। इस प्रकार की दशा होने पर (उससे पूर्व नहीं) सत्यों की वर्षा होने लगती है। नवीन से नवीन आविष्कार व्यक्त होने लगते हैं। ज्ञान की धारा निकलकर बहने लगती है। प्रकृति के नवीनतम रहस्य प्रत्यक्ष होने लग जाते हैं।

धर्म का जो स्वरूप आरंभ में बताया गया है, जिस योगसाधना के रूप में उसका वर्णन किया गया है—संसार के संपूर्ण सत्य, खोज, आविष्कार, सिद्धांत तथा नियमोपनियम—नैसर्गिक रूप में, उसी अवस्था में व्यक्त होते हैं। ज्योंही कोई कवि एक बार उसी समाधि की स्थिति में पहुंच जाता है, त्योंही एक-से-एक अलौकिक विचार, एक-से-एक उत्तम भाव उसकी काव्यधारा से फूट पड़ते हैं।

भले ही कोई कवि हो या दार्शनिक, गणितशास्त्री हो या वैज्ञानिक—जो भी व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष 'अहं'-भाव का विस्मरण करता है—वही कठिन-से-कठिन समस्या का विस्मयकारी समाधान बतलाता है। जब किसी समस्या का समाधान हो जाता है, कोई आविष्कार हाथ में आ जाता है, तब हमारा प्रत्यक्ष 'अहं' उसका समस्त श्रेय प्राप्त करने के लिए बेचैन हो उठता है। परंतु स्मरण रहे—हमारे अंतःकरण में यह अधिकार जमाने की इच्छा करने वाली 'मैं' का अस्तित्व जब तक विद्यमान रहता है, तब तक कभी भी किसी तरह का आविष्कार होना संभव नहीं होता। जब 'मैं' का लोप हो जाए, केवल उसी दशा में धर्म की ऐसी अवस्था प्राप्त की जा सकती है, जिसका आरम्भ में संकेत किया गया है।

किसी युद्धभूमि में चलें और किसी वीर मनुष्य की मनोदशा पर विचार करने का प्रयत्न करें—वह अपनी अलौकिक शक्ति से मानो बावला-सा हो रहा है। अपने सामने खड़े हजारों शत्रुओं की उसे परवाह नहीं है। उसे अपनी देह का भी होश नहीं है। वास्तव में, अब वह न देह है, न चित्त। वह बाहरी दुनिया से बेसुध है। केवल उत्साह है—सिर्फ जोश। उसकी देह का रोम-रोम पुकार रहा है कि

वह इस समय उस परमात्म-रूप में निमग्न है—जो देह में, चित्त में, संपूर्ण विश्व में सदा रमता है। दर्शक उस वीरात्मा के अजेय साहस तथा निःसीम शूरवीरता को देखकर चकित-स्तब्ध है। न जाने वह वीरता कहां से उसके द्वारा प्रकट होकर दर्शकों की आंखों में चकाचौंध उत्पन्न कर रही है। यदि स्वयं उस वीर से प्रश्न किया जाए, तो वह भी अपनी अपराजेय वीरता से उसी प्रकार बेखबर प्रतीत होगा, जिस प्रकार समाधि अवस्था में, धर्म के यथार्थ रूप में अज्ञात, अवर्ण्य सर्वात्मा में सब-कुछ लीन रहता है।

अब हम 'प्रेम' पर विचार करें। कैसा प्रिय शब्द है 'प्रेम'! प्रेमी से सभी प्यार करते हैं। वास्तविक 'भक्त' की भक्ति कौन नहीं करता? सच्चे इंसान को बहुत अधिक मौकों पर भक्ति का ही आसरा रहता है। कुछ इस प्रकार की उत्तम आत्माएं होती हैं, जो परमेश्वर की भक्ति के लिए, परमात्मा की सेवा के लिए, अपना सब-कुछ खुशी-खुशी न्योछावर करने के लिए तैयार रहती हैं।

हम इस भक्ति के मूल स्रोत की खोज करें। चैतन्य महाप्रभु अथवा बनयन आदि आदर्श भक्त इस कारण प्रसिद्ध हैं कि प्रार्थना करते समय वे असामान्य रूप से 'समाधि' अथवा आत्मविभोर दशा में पहुंच जाते थे। यहां यह बताने की जरूरत नहीं कि जिस मन के अंदर परमात्मा की भक्ति इतने तीव्र वेग से उमड़ती है, उसके लिए लोक-लाज़ अथवा दुनियादारी जैसी कोई चीज नहीं रह जाती। वह अपने तुच्छ 'अहं' के बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

परंतु उक्त प्रकार के दिव्य मानवों की बात छोड़ दीजिए, उन व्यक्तियों की ओर ध्यान दीजिए, जिन्हें सांसारिक चीजों से ही सच्चा प्यार करने का मौका मिला है। वे भी अनुभव से बतला सकते हैं कि प्रेम की चरम सीमा पर पहुंचकर न कोई प्रेमी रहता है, न प्रेमिका। इसमें संदेह नहीं कि यह बात विचित्र प्रतीत होगी; परंतु होता यही है। भावार्थ यह है कि—'प्रेम का भी वही स्वरूप है, जैसा कि धर्म का वर्णन किया गया है।'

हम 'आनंद' को लें। इसके लिए अंग्रेजी में 'एक्सटेसी' (Ecstacy) शब्द का प्रयोग किया जाता है (ek–out=बाहर, और sta–or stand=ठहरना)। इस शब्द का प्रयोग उस अवस्था के लिए होता है, जब मनुष्य चाहे किसी स्थिति में हो, किसी दशा में हो—शरीर, चित्त, बुद्धि अथवा इस दृश्यमान जगत् से बाहर निकलकर खड़ा हो—इसी का नाम 'आनंद' है। यदि हम अपनी अनुभूतियों का विश्लेषण करें, तो हम बता सकते हैं कि जिस समय द्वैत (जीव और परमात्मा की भिन्नता) के बंधन से—भले ही अल्पकाल के लिए क्यों न हो—हम मुक्त हो जाते हैं, उसी समय हमें 'आनंद' की प्राप्ति होती है। इष्ट पदार्थ तथा इच्छुक—जब ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, तभी 'आनंद' की अभिव्यक्ति होती है। इस तरह हमें दिखाई पड़ता है कि 'आनंद' के स्वरूप में तथा धर्म के स्वरूप में अभिन्नता है।

इससे यह साफ निष्कर्ष निकलता है जीवन के समस्त उत्तम तथा चिरकाल से मनोवांछित उद्देश्य हमें तभी प्राप्त होते हैं, जब हमारा चित्त और हमारी बुद्धि तथा उनके संग ही दृश्यमान संसार—सभी उस अज्ञात तत्त्व में लय होकर लुप्त हो जाते हैं।

परंतु इस प्रकार की साधना के द्वारा हम केवल पल-भर के लिए ही इस सर्वव्यापी तत्त्व में लीन हो सकते हैं, जैसे शब्दकोश में लीन होकर हम एक शब्द का अर्थ मालूम कर लेते हैं, जैसे कि सागर में गोता लगाने वाले मरजीवा (मोतियों के लिए समुद्र में डुबकी लगाने वाला, गोताखोर) के हाथ फौरन एक मोती आ गया हो।

काम-संबंधी भोग में मिलने वाला 'आनंद' भी, यदि ध्यान से देखें तो, वस्तुतः धार्मिक होता है। परंतु जिस रीति से कामसंभोग में हमें धर्म की उपलब्धि की अनुभूति होती है—उसकी समता उस रीति से की जा सके कि जैसे कोई गंदी नाली के वातायन से, राजदरबार की सुंदरता को देखने का प्रयत्न किया जा रहा हो। दुर्भाग्य से जो सुना जाता है वे कामोपभोग तो विद्युत की उस चकाचौंध के सदृश हैं, जो कि तत्त्वतः व्यापक सूर्य उद्योत से एकत्व रखते हुए भी हित की अपेक्षा अहित ही करते हैं। कामोपभोग की तुलना के लिए एक मनोहर दृष्टांत है, जिसमें प्रोमीथियस (Prometheus) ने स्वर्ग से आग चुराने की कुचेष्टा करके असंख्य पीड़ाएं सहन की थीं।

प्रश्न है कि इस परम कल्याणकारी आनंदमय राजदरबार में क्या वैधानिक द्वार से प्रविष्ट होना संभव है? क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है कि जिससे आधी रात की बिजली की चकाचौंध को अनादिकालीन दिन के प्रकाश में परिवर्तित किया जा सके? हमारे अंतःकरणों में स्वतः ही इस प्रकार की आकांक्षा विद्यमान होती है, इसीलिए सामान्यतः हमें धर्म की आवश्यकता पड़ती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो मनुष्य अथक प्रयत्न करते हैं, वे

सराहनीय हैं। इसके विपरीत, जो धर्म के गौरव का अनादर करते हैं, वे वस्तुतः जानबूझकर अपनी आकांक्षा के विरुद्ध मानो आत्महत्या करने में लगे हुए हैं।

दर्शन अथवा विज्ञान ने इस अवर्णनीय तत्त्व के रहस्य का पता लगाने के जितने अधिक प्रयत्न किए हैं—वे असफल हुए हैं। देश-काल तथा कार्य-कारण संबंध के विषय में भले ही द्रष्टा और दृश्य की दृष्टि से चिंतन किया जाए, उनके वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता, वह बुद्धि की पकड़ में नहीं आता। पदार्थ-गति अथवा शक्ति के अंतिम स्वरूप का अनुसंधान करते समय अनुसंधानकर्ता मस्तिष्क के सम्मुख इस प्रकार की भीषण बाधाएं आ खड़ी होती हैं कि जिनको पार करना असंभव हो जाता है।

अणु सिद्धांत (Atomic Theory) में स्वयं अंतर्विरोध पैदा होता है। यही दशा अंत में वैज्ञानिक बोस्कोविच (Boscovich) के गति-केंद्र के सिद्धांत (Theory of Centres : of Force) की हुई। जगत् के जितने भी प्रमाणों पर आश्रित धर्म इस समय तक चलन में हैं, उन सभी में किसी-न-किसी अंश में विचारहीनता पाई जाती है। एक दर्शनशास्त्र दूसरे दर्शनशास्त्र का खंडन करता है। दूसरा उससे प्रतिशोध लेने में कोई कसर नहीं छोड़ता। इन तथ्यों से साफ पता चलता है कि प्रकृति का आंतरिक रहस्य बुद्धि के लिए सदा ही अगम्य रहेगा। अर्थात् सृष्टि की गहनता का बोध प्राप्त करना मनुष्य की बुद्धि से परे की वस्तु है।

तो क्या इस प्रकार की अवस्था में सृष्टि के आधार-स्वरूप उस निरपेक्ष-तत्त्व का संधान करने की ओर से हमें बिल्कुल निराश हो जाना पड़ेगा? क्या हमें अपनी संपूर्ण शक्ति लौकिक व्यवहार की वस्तुओं—उदाहरणतः रेल, तार, ध्वंसक बारूद तथा बमों के आविष्कार में ही नियोजित करनी चाहिए? परंतु इन खिलौनों से क्या बनेगा? इनसे भी तो मानव को शांति की प्राप्ति नहीं होती।

प्रत्येक नई वस्तु को पाने के लिए हमारे मन में लालसा अनिवार्य रूप में जाग्रत होती है; परंतु उस नई वस्तु के प्राप्त होने पर अन्य नई वस्तु की लालसा जाग उठती है, जो उस प्रथम वस्तु की इच्छा की तुच्छता प्रकट करती है। इस प्रकार हम पर यह प्रकट होता है कि सांसारिक लालसाएं तुच्छ हैं। इस प्रकार के विचारों से हमारे मन में निराशा का अंधकार छा जाता है। परंतु उपनिषदों में कहा गया है—'निराश न होओ! शांति के लिए तुम्हारे अंतःकरण की आकांक्षा कभी विफल नहीं जाएगी।'

इस वास्तविक सचाई के विपरीत भले हम कितना ही दुराग्रह करके आंखें मूंद लें, एकांत के कुछ-एक सुखदाई क्षण ऐसे आते हैं, जब हम बाध्य होकर सोचने लगते हैं कि इस संसार का विस्तार कहां से उद्भूत हुआ? मैं कौन हूं? या मेरे होने का प्रयोजन क्या है? इस विस्तृत पृथ्वी तथा अनंत अंतरिक्ष का क्या उद्देश्य है?

हमारे अंतःकरण में जड़ जमाए रहने वाले इन प्रश्नों का कोई हल तो अवश्य ही होना चाहिए। यद्यपि दर्शन, विज्ञान तथा लौकिक प्रेम द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता। यह समस्या वस्तुतः उसी अकथनीय माया का एक अंश है, जिसका समाधान मनुष्य प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार कोई बाज उस आकाशमंडल को पार नहीं कर सकता, जिसमें वह उड़ता है, वैसे ही हमारी विचार की सामर्थ्य अपनी सीमा के बाहर नहीं जा सकती।

जब तक प्रश्न पूछने वाले तथा जिसके बारे में प्रश्न पूछा जाता है, दोनों में भिन्नता (द्वैत भावना) विद्यमान रहेगी, तब तक माया रूपी कारागार की भित्तियां ध्वस्त नहीं हो सकतीं और तब तक हम नाम और रूपमय दृश्य पदार्थ-जगत् से ऊंचे नहीं उठ सकते।

हम धर्म के विशेष आदर्श को एक विशेष प्रकार की साधना के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। जब वह आदर्श प्राप्त हो जाता है, तो वहां न कोई प्रश्न का चिह्न रहता है, न उत्तर का ही। इस लक्ष्य को पाना 'वेदांत' का उद्देश्य है। परंतु लौकिक प्रेम, सुख, मनोरंजन-विनोद—जैसी बातों से उसका कोई सरोकार नहीं होता। क्योंकि इन सबसे तो मनुष्य की दासता, परवशता में वृद्धि होती है।

जिसे अद्वैत दृष्टि की उपलब्धि हो जाती है, वह स्वयं परमात्मा हो जाता है। वह स्वयं ब्रह्म है जो मन तथा बुद्धि से अगोचर है। जो मानव इस ब्रह्म के दर्शन मात्र प्राप्त कर लेता है, वह भय तथा चिंता से उन्मुक्त होकर 'आनंद' को प्राप्त करता है। जिस मनुष्य को ब्रह्म के साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है या दूसरे शब्दों में जिसे धर्म की प्राप्ति हो जाती है, उसका चरित्र निर्मल, निश्छल तथा निष्पाप हो जाता है।

कहना चाहिए—इसीलिए धर्म की हम सबके लिए आवश्यकता है। ❖

❑
असफलता की अवस्था में असंतुलित होने से, अधीर होने से कभी भी समाधान नहीं मिलता। इससे समस्या दस गुना और बढ़ जाती है। जो समस्या है, वह तो अपनी जगह यथावत बनी हुई है, तिस पर जब मस्तिष्क अशांत है तो उससे उत्पन्न स्थिति समस्या को और ज्यादा उलझा देती है। ठीक इसके विपरीत यदि शांत मस्तिष्क से समस्या के कारणों को खोजा जाए तो समाधान अवश्य मिल जाता है। अपनी गलतियों को समझकर अपना परिष्कार किया जाए और आगे की सफलता के लिए उत्साह के साथ जुट जाएं, अपने संकल्प को गहरा बनाएं तो एक बार की असफलता सदा-सदा के लिए वरदान बन सकती है। असफलता को सकारात्मक ढंग से स्वीकार करें और उससे सबक ले लें। याद रखें, एक असफलता सौ सफलताओं के द्वार खोल देती है।

❑

कैसे लें खिली धूप का आनंद

❑ *मुनि प्रशांतकुमार*

सुनीता ने कई दिनों से खाना-पीना छोड़ रखा था। वह न तो किसी से बात करना चाहती और न ही कहीं बाहर घूमने जाना उसे अच्छा लगता। कारण जानने पर पता चला कि कुछ ही दिन पहले उसका ग्यारहवीं का परिणाम आया था और वह 'सैकंड-डिवीजन' से उत्तीर्ण हुई थी। सुनीता हमेशा 'फर्स्ट-डिवीजन' आती रही है, लेकिन इस बार के 'रिजल्ट' के कारण वह इतनी हताश हो गई है।

सुनीता को समझाया गया कि इस बात के लिए उसे इतना हताश-निराश नहीं होना चाहिए। सफलता-असफलता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसे उतार-चढ़ाव तो जिंदगी में आते ही रहते हैं। कोई भी व्यक्ति हो, उतार-चढ़ाव हर किसी को देखना पड़ता है। किसी का भी समय सदा एक सरीखा नहीं रहता।

उसे समझाया गया कि देखो! तुम फेल तो नहीं हुई। जरा उनकी सोचो, जो फेल हो गए हैं। उन पर क्या बीत रही होगी। 'सैकंड-डिवीजन' आना भी कम नहीं है। कभी फेल भी हो जाएं तब भी इस तरह अपने-आप को हीन नहीं समझना चाहिए। मन के उत्साह को कभी क्षीण नहीं होने देना चाहिए। असफलता से कभी घबराना नहीं चाहिए। समझना चाहिए कि यह हमें आगे बढ़ने को और अधिक प्रेरित करे। जीवन में शिक्षा देने के लिए ही असफलता आती है। ठोकरें ही मनुष्य को चलना सिखाती हैं।

एक विचारक ने कहा भी है—यदि आपको गहरे काले बादलों, बारिश और तूफान का अनुभव नहीं है, तो आप सूरज की खिली धूप का आनंद नहीं ले पाएंगे।

इस तरह समझाने से सुनीता के विचार बदले। वह हताशा से मुक्त होकर स्वस्थ हुई। इस परिणाम को एक सबक मानकर वह अधिक सजग हो गई और अपने अध्ययन में कड़े परिश्रम के साथ जुट गई। ऐसी स्थितियां केवल विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, माता-पिता के लिए भी बहुत परेशानी का सबब बन जाती हैं। आज के प्रतियोगी युग में असफलता और सफलता के मापदंड दूसरे ही तय करते हैं। कई बार ये मापदंड ऐसे होते हैं कि इन्हें हासिल न कर पाने से दुख होता है।

किशोर उम्र और, खासकर, युवा वर्ग को यह समझ स्पष्ट रखनी चाहिए। साथ ही माता-पिताओं को भी उनके साथ संवाद का रिश्ता बनाकर उन्हें यह समझाना चाहिए कि परिणाम किसी के हाथ में नहीं है। हर मनुष्य की अपनी सीमा है और अपनी सीमाओं को समझकर चलेंगे तो अनावश्यक चिंताओं और दुखों का भार नहीं ढोना पड़ेगा। अपने कर्तव्य के प्रति हम सजग रहें, परिश्रम और निष्ठा में

कमी न रहे, पूरी ईमानदारी से अपने कर्तव्य को पूरा करने के बाद जो भी परिणाम आए—अनुकूल या प्रतिकूल—उसे स्वीकार करना चाहिए। परिणाम को प्रसन्नता से स्वीकार करने में ही समझदारी है। हार और जीत का चक्र जीवन में चलता रहता है। जो अपने मन पर हार को हावी नहीं होने देता, वह हारकर भी जीता हुआ माना जाता है। किसी विचारक ने कहा है— जीवन जब संगीत की तरह सुखद लग रहा हो, तब मुस्कराना सरल है। पर जब सब-कुछ प्रतिकूल घटित हो रहा हो, उस समय मुस्कराना सीखो।

यह भी समझना होगा कि सफलता के साथ असफलता का स्वाद भी चखना पड़ता है। हर स्थिति को झेलने के लिए अपने-आपको तैयार रखना चाहिए। यह कथन प्रेरणादायक है कि जो अच्छा मिलता है उसका सम्मान करो, जिंदगी में खराब-से-खराब समय के लिए भी अपने को तैयार रखो और फिर जो भी परिणाम मिलें, उन्हें स्वीकार करो।

परिणाम के प्रति पूर्वाग्रह रखने वाला कभी आगे नहीं बढ़ पाता। वैसा व्यक्ति प्रतिकूल फल आने पर अपने को संभाल नहीं पाता। वह मनोव्यथा, हताशा और हीनता की ग्रंथि का शिकार हो जाता है। किसी से बहुत ज्यादा अपेक्षाएं न रखते हुए जो मिलता है—उसे सहजता के साथ प्रसन्नता से स्वीकार करने की मानसिकता का विकास करना चाहिए।

प्रतिकूलताओं को वही व्यक्ति झेल पाता है, जिसका मनोबल दृढ़ होता है। जिसमें सहने की शक्ति नहीं, वह थोड़ी प्रतिकूलता में भी अधीर और असहाय हो उठता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने को सहज और संतुलित रखने का उपाय है—विश्व-व्यवस्था अथवा प्रकृति के नियमों से परिचित होना। विश्व-व्यवस्था के जो भी सार्वभौम नियम हैं, जो शाश्वत हैं, उन्हें समझ लेने पर दुख का संवेदन स्वतः कम हो जाता है। परिणामों को अस्वीकारने से जो शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, उसे वैश्विक नियमों को समझ कर सहज ही बचाया जा सकता है। वैश्विक नियम से सीधा तात्पर्य है—प्राकृतिक नियम।

यह याद रखना जरूरी है कि असफलता ही आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। मगर ऐसा संतुलित मानसिकता रखने से ही संभव है। यदि ऐसा प्रशिक्षण प्राप्त हो तो कोई भी असफलता या कोई भी परिणाम विचलित नहीं कर सकता। कठिनाई के समय अपने मन-मस्तिष्क को शांत और संतुलित रख लें तो समाधान स्वतः मिलेगा और नया रास्ता भी सूझेगा।

असफलता की अवस्था में असंतुलित होने से, अधीर होने से कभी भी समाधान नहीं मिलता। इससे समस्या दस गुना और बढ़ जाती है। जो समस्या है, वह तो अपनी जगह यथावत बनी हुई है, तिस पर जब मस्तिष्क अशांत है तो उससे उत्पन्न स्थिति समस्या को और ज्यादा उलझा देती है। ठीक इसके विपरीत यदि शांत मस्तिष्क से समस्या के कारणों को खोजा जाए तो समाधान अवश्य मिल जाता है। अपनी गलतियों को समझकर अपना परिष्कार किया जाए और आगे की सफलता के लिए उत्साह के साथ जुट जाएं, अपने संकल्प को गहरा बनाएं तो एक बार की असफलता सदा-सदा के लिए वरदान बन सकती है। असफलता को सकारात्मक ढंग से स्वीकार करें और उससे सबक ले लें। याद रखें, एक असफलता सौ सफलताओं के द्वार खोल देती है।

इतिहास के प्रेरक प्रसंग, प्रेरक बातें भी किशोरों-युवजनों को, विद्यार्थियों को बतानी चाहिए। इनसे प्रेरणा मिलेगी कि बड़े-बड़े व्यक्तियों के सामने भी कठिनाइयां आई हैं, उन्हें भी असफलताओं का सामना करना पड़ा है। उन्होंने वैसी स्थितियों में भी अपने मनोबल को गिरने नहीं दिया। किसी भी तरह की कठिनाइयों से उनका मनोबल आहत नहीं हुआ। असफलताओं की परवाह न करते हुए, दृढ़ इच्छाशक्ति से अपने मार्ग पर डटे रहे और दृढ़ मनोबल व ऊंचे लक्ष्य के साथ वे आगे बढ़ते रहे। एक दिन अपने लक्ष्य को उन्होंने प्राप्त कर लिया।

अपनी इच्छाशक्ति के बल पर सफल व्यक्तियों की सूची में अपने को शामिल किया जा सकता है। निराश होकर बैठ जाना भविष्य के लिए कभी भी अच्छा नहीं होता। निराशा का विचार जैसे ही मस्तिष्क में आए, उसे तत्काल बाहर निकालें और अपने उज्ज्वल भविष्य की सोचें। आगे की तैयारी पर ध्यान दें। निराशा का विचार जीवन के लिए जहर है, इसे कभी अपने मन में स्थान न दें। कुछ गलतियां आदमी अपने जीवन में कर लेता है। एक गलती यह भी है कि वह अपने मस्तिष्क के परिष्कार और विकास पर ध्यान नहीं देता। उसकी उपेक्षा करता है। अनवरत पढ़ने व अध्ययन की आदत भी नहीं डालता। अतः मस्तिष्क के परिष्कार पर ध्यान देना चाहिए। निरंतर स्वाध्याय-अध्ययन से ही यह संभव है।

शेष पृष्ठ 35 पर

❑

किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व विनाश की डगर पर है या विकास के सोपान पर—इसका निरीक्षण ईमानदारी से करना जरूरी है। किसी का व्यक्तित्व अभिशाप है या उसकी कोई सार्थकता भी है—यह देखना जरूरी है। विपथगामी, हिंसा और आतंक से संत्रस्त इस जगत में आदर्श व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा पकड़ पाना कठिन प्रतीत होता है। आज व्यक्ति का स्वभाव समूहवादी, सामाजिक व विश्वजनीन नहीं होकर व्यक्तिवादी हो गया है, स्वार्थ मुख्य हो गया है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना अब केवल वाचिक परंपरा-भर रह गई है। मनुष्य का जीवन बोझिल बनता जा रहा है और त्राहि-त्राहि महसूस होती रहती है। सार्वभौम व्यक्तित्व की आभा तो धुंधली ही होती जा रही है। इस दुरवस्था को बदलने के लिए सद्-विचारों का अमृत-सिंचन जरूरी है। यह नहीं हुआ तो जीवन का तरुवर ठूंठ बन जाएगा। मनुष्य अस्थि-कंकाल मात्र रह जाएगा।

❑

सोपान : अपरिमेय मंजिल के

❑ समणी संबोधप्रज्ञा

यह विश्व व्यक्तित्वों की विविधता का सागर है। भिन्न-भिन्न रूप वाले व्यक्ति यहां हैं और छह जुड़वां बच्चों में भी भेद की रखाएं स्पष्ट नजर आती हैं। इसी तरह वाणी व कर्म में और भी ज्यादा भिन्नता पाई जाती है। यह भेद करना कठिन होता है कि कोयल के एक झुंड में किस कोयल का स्वर फूटा या मुर्गों के झुंड में से किस मुर्गे ने बांग दी। लेकिन व्यक्ति इसका अपवाद है। सबकी अलग-अलग आवाज है और आवाज से पहचान भी लिया जाता है। पदचाप सुनते ही अमुक आदमी की पहचान हो जाती है।

हर मनुष्य के रूप और गुण-धर्म में बुनियादी फर्क है। इसलिए हर एक का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है। हर एक के व्यक्तित्व में विकास और ह्रास के ज्वार-भाटे भी उभरते रहते हैं। व्यक्ति प्रतिक्षण बिगड़ता और बनता है। व्यक्तित्व-निर्माण सरल नहीं है। अलबत्ता यह सर्वमान्य है कि मनुष्य जैसा बनना चाहता है, वैसा बनना उसी पर निर्भर करता है।

व्यक्ति एक मशाल है। मशाल की आग ही मशाल का व्यक्तित्व है। यदि आग बुझ गई तो मशाल मात्र लकड़ी का डंडा रह जाएगी। व्यक्ति की तेजस्विता उसके व्यक्तित्व पर टिकी है। उसके बिना व्यक्ति निष्प्राण-निस्तेज है। आदर्श व्यक्तित्व दूसरों के जीवन का दर्पण माना जा सकता है। ऐसा व्यक्तित्व डींग हांकने या सौंदर्य के प्रदर्शन से नहीं बन सकता है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की अस्मिता को तन-मन में बसाने से ही ऐसा व्यक्तित्व निर्मित हो सकता है। व्यक्ति की महानता और कृतित्व की समीक्षा 'व्यक्तित्व के आईने' से ही होती है। संसार का आदर व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु व्यक्तित्व के लिए होता है। व्यक्तित्व जीवन की आभा और अंतरशक्तियों का उद्रेक है। ऊर्ध्वमुखी व्यक्तित्व राम व अधोमुखी व्यक्तित्व रावण की संज्ञा से अभिहित होता है।

किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व विनाश की डगर पर है या विकास के सोपान पर—इसका निरीक्षण ईमानदारी से करना जरूरी है। किसी का व्यक्तित्व अभिशाप है या उसकी कोई सार्थकता भी है—यह देखना जरूरी है। विपथगामी, हिंसा और आतंक से संत्रस्त इस जगत में आदर्श व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा पकड़ पाना कठिन प्रतीत होता है। आज व्यक्ति का स्वभाव समूहवादी, सामाजिक व विश्वजनीन नहीं होकर व्यक्तिवादी हो गया है, स्वार्थ मुख्य हो गया है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की

भावना अब केवल वाचिक परंपरा-भर रह गई है। मनुष्य का जीवन बोझिल बनता जा रहा है और त्राहि-त्राहि महसूस होती रहती है। सार्वभौम व्यक्तित्व की आभा तो धुंधली ही होती जा रही है। इस दुरवस्था को बदलने के लिए सद्-विचारों का अमृत-सिंचन जरूरी है। यह नहीं हुआ तो जीवन का तरुवर ठूंठ बन जाएगा। मनुष्य अस्थि-कंकाल मात्र रह जाएगा।

प्रकृति का विकास तो स्वतः होता है। मनुष्य को अपना विकास करना पड़ता है। प्रकृति का विकास स्वभावतया हो जाता है, पर मनुष्य के विकास में पुरुषार्थ, कर्मयोग व कर्मठता के बीज बोने पड़ते हैं। व्यक्तित्व को ऊर्ध्वगामी और स्वस्थ रखने के लिए कुछ करना होता है। करने के लिए जोश जरूरी है, समुद्र की लहरों की तरह निरंतर गतिशीलता और लक्ष्य के प्रति अहर्निश तत्परता जरूरी है।

व्यक्तित्व के विकास एवं स्वातंत्र्य में न तो किसी तरह का शक होना चाहिए और न ही भय। संशय रहित निर्भयता व्यक्तित्व-विकास की पहली सीढ़ी है। इसके लिए निरंतर कर्मयोगी बनना होगा। फल की आशा न रखकर केवल कर्म करना होगा। इस सोपान पर प्रबल पुरुषार्थ व सक्रिय हाथ परम आवश्यक है। पहले ही सोपान पर दृष्टि की मूढ़ता से मुक्त होना होगा। इसके लिए निरंतर गहरे प्रयास की अपेक्षा है और साथ-ही-साथ अपने भीतर पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित करनी होती है।

व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को चेतना के शिखर तक चढ़ाने के लिए कई बार मेहनत करता है, पर कई बार सफलता नहीं मिल पाती। तब उसका यकीन डगमगाने लगता है। मंजिल की ओर कदम तो बढ़ते हैं, पर मंजिल के प्रति शक रहता है और तीसरी सीढ़ी से ही लौट आते हैं। जबकि लक्ष्य के एक-एक सोपान तक पहुंचने के लिए जरूरी है कि संशय का घेरा समाप्त होता चला जाए। चेतनाशील व्यक्तित्व का रूप तभी दिया जा सकता है जब अपनी चेतना की उज्ज्वलता के प्रति व्यक्ति में लगनशीलता हो। व्यक्तित्व-विकास के आरोहण के लिए यह प्रमुख चरण है। लेकिन सिर्फ लगनशीलता ही पर्याप्त नहीं है। अगले सोपान तक पहुंचने के लिए कर्तव्यशील होना भी आवश्यक है। तभी उसके आगे की सीढ़ी पर पैर रखते हुए वह व्यक्ति कर्मयोगी व संयमशूर हो सकने की क्षमता अर्जित कर सकता है। इस प्रकार वह व्यक्ति स्वयं तो संस्कारित होता ही है, दूसरों को आगे बढ़ाने और सत्य-निष्ठा को स्थापित करने में भी अपनी शक्ति का समायोजन कर सकता है। इस तरह उसके कदम मुक्ति के महकते उपवन की ओर बढ़ने लगते हैं।

व्यक्तित्व-विकास की यह यात्रा चरैवेति-चरैवेति आगे बढ़ती रहती है। चलते-चलते पैर परिश्रांत भी हो जाते हैं। मंजिल और रास्ते तो अपनी-अपनी जगह स्पष्ट होते हैं, पर कदम ही साथ न दें तो मुसाफिर क्या करे? अगले सोपान पर तब एक विश्रामगृह, आरामगाह नजर आता है। यहां रुककर व्यक्ति थोड़ा विश्राम कर लेता है, थोड़ी चैन की सांस लेता है, लेकिन जीवटभरा व्यक्तित्व पूरी तरह नहीं ठहरता है। अपनी अगली यात्रा के साधन जुटा आगे बढ़ने को उत्कंठ हो उठता है। यात्रा के इस चरण में प्रामाणिकता आवश्यक है। यह साधुता का सोपान है। इस सोपान में व्यक्ति के कदम अपनी ओर बढ़ते हैं। यहां से अंतर्यात्रा प्रारंभ हो जाती है। बहिर्मुखी वृत्तियां अंतर्मुखी होते ही सद्गुणों का प्रवेश जीवन में होने लग जाता है। व्यक्तित्व-विकास की तीव्र गति यहीं से शुरू होती है।

इसी सोपान पर सत्य का सूर्योदय प्रकट होता है। उषाकाल में ब्रह्ममुहूर्त की झंकार ध्वनित होती है। यह आंतरिक तंदुरुस्ती का सोपान है। आभ्यंतर रूप से पूरी 'फिटनेस' आ जाती है, जागरूकता आ जाती है। व्यक्ति स्वयं के प्रति जागरूक हो जाता है। अप्रमत्त वेग के साथ कदम बढ़ते जाते हैं। वह भारुंड पक्षी की तरह सजग हो जाता है—निरंतर अप्रमत्त, सतत सजग, सचेतन। इस चरण में आते-आते सकल कार्य और कर्तृत्व का निखार प्रकट हो जाता है। व्यक्ति की रग-रग से पवित्रता और शांति की किरणें फूटने लगती हैं, जैसे कि सूर्य-संस्पर्श से कमल खिलने लगा हो। अंतर-वीणा झंकृत होने लगती है। यह सोपान व्यक्तित्व-विकास के सौंदर्य का रसास्वादन करने का है। इसी के साथ व्यक्तित्व की ऊंचाइयां प्रारंभ होती हैं। बुद्धत्व की ओर गमन भी हो सकता है। चरम लक्ष्य की ओर भी चरण गतिशील हो सकते हैं। अगले सोपान पर आंतरिक शक्तियों से परिचय होता है। आभामंडल प्रदीप्त हो जाता है। अनेक कष्ट और बाधाओं के बावजूद चित्त में सौम्यता का प्रवेश हो जाता है। जीवन का यह चरण अपूर्वकरण है। इसमें व्यक्तित्व आत्मदर्शी हो जाता है।

आत्मदर्शिता का अगला सोपान है समदर्शिता का। समदर्शी व्यक्तित्व में अहं का संघर्ष नहीं रहता। इस सोपान पर आते ही मन में छिपी अहंकार की ग्रंथि को व्यक्ति पहचान लेता है। विकास के इस सोपान पर पहुंचकर ही

पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है। सर्वात्म में होने वाली समदृष्टि ही चेतना का चरण है और इस सोपान पर कदम रखते ही संपूर्ण संसार उसकी ओर उमड़ने लगता है। ऐसे व्यक्तित्व के दर्शन-मात्र से मन में अपूर्व शांति पैदा होती है। ऐसा व्यक्तित्व विश्व के लिए वरदाई हो जाता है। उसके होने-मात्र से वातावरण संगीतमय हो जाता है। पत्ता-पत्ता, कण-कण झूमने लगता है और प्रेम-वात्सल्य के घुंघरू खनखना उठते हैं। वह महापुरुष कहलाने लगता है। उसके अंतर की ईश्वरीय शक्तियां जाग्रत हो जाती हैं। 'मैं-मैं' समाप्त होकर वह व्यक्ति अंतर्यामी हो जाता है। यही पूर्णता की देहरी है। व्यक्तित्व की परिपक्व अवस्था यही है। यहां कोई खतरा नहीं, अंतः-तृप्ति है। यहां आनंद-सागर हिलोरें मारता-सा लगता है। तब सूक्ष्म मोह भी समाप्त हो जाता है, क्षीण हो जाता है। तब करुणा की अमिय-धारा बरसने लगती है।

व्यक्तित्व-विकास के इस सर्वोच्च शिखर पर सौभाग्यशाली ही आरूढ़ हो सकता है। संपूर्ण आवरण तब छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इससे उत्कृष्ट व्यक्तित्व मानव-जगत में संभव नहीं है। ऐसा व्यक्ति जो भी कहता है—उसकी वे बातें सीधी, सच्ची व बेलाग होती हैं। जहां से वह व्यक्ति गुजरता है, संपूर्ण वातावरण अकथ सुरभि से सुगंधित हो जाता है। वहां दलदल में भी कमल खिल उठते हैं। मरुस्थल में उद्यान लहलहाने लगते हैं। प्यासे को अमृत मिल जाता है। सत्य का सूर्योदय प्रकट हो जाता है।

यह यात्रा की पूर्णता का सोपान पलक झपकते ही पार हो जाता है। पांच ह्रस्व अक्षरों के (अ, इ, उ, ऋ, लृ) उच्चारण जितना समय इस अंतिम सोपान का है। यहां अनंतता के साम्राज्य में प्रविष्टि होती है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद और अनंत शक्ति एवं शांति यहां विद्यमान हैं। व्यक्तित्व-विकास की यह चरम सीमा है। इससे आगे और कोई सोपान नहीं है। सचमुच यह मंजिल अपरिमेय है। ❖

कैसे लें खिली धूप का आनंद पृष्ठ 32 का शेष

विजयश्री प्राप्त करने के लिए एक ही मंत्र है। वह है—पूरी शक्ति के साथ असफलताओं को नकारो। असफलताओं को पास भी न फटकने देने, उनसे निपटने की पूरी तैयारी रखो। रुकावटों या असफलताओं का सामना साहस से करो, घबराओ नहीं। आगे बढ़ने का संकल्प करो। सारी असफलताओं के बाद जो जीतता है, सिकंदर वही कहलाता है।

मनो-विशेषज्ञों का कहना है कि अधिकांश लोग एक बार मिली असफलता से ही आहत होकर अपने लक्ष्यों से मुंह मोड़ लेते हैं, लेकिन जो डटे रहते हैं, वे अंधेरे में भी रोशनी की किरण ढूंढ़ लेते हैं। दो दिनों के बीच आई रात ज्यादा देर नहीं रहती। सुबह की किरण का उत्साह के साथ इंतजार करने वाला विकास के सोपान पा लेता है। यह समझना चाहिए—असफलता विलंब है, पराजय नहीं। असफलता एक सीढ़ी है, अंधकारमय अंत नहीं। असफलता को अपना शिक्षक बनाएं, स्वामी नहीं। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

अनीत बोला—'नहीं भाई बाबू। सचमुच इस तरह नहीं डांटना चाहिए था। जान-बूझकर तो तुमने उसे तोड़ा नहीं। ऐसा कितनी बार होता होगा। उस दिन मौसी के हाथ से चाय की प्लेट गिर गई, क्या किसी ने मौसी को डांटा? बड़े लोग ऐसा अन्याय करते ही रहते हैं। चलो, हम लोग खेलें। तुम ये सब सोचकर दुःखी मत होओ।'

अरी बहन

नवनीता देवसेन

छोटे बाबू ने मुट्ठीभर टॉफी लेकर दूसरा हाथ आगे बढ़ाया—'अनीत के लिए?' उसकी मुट्ठी में टॉफी भरते हुए मामा ने पूछा—'अनीत कौन?' सुनकर मां और दीदी ने एक-दूसरे की तरफ देखा। हल्के से मुस्कराकर मां बोली—'अनीत! अनीत बाबू का बेस्ट फ्रेंड (अन्यतम मित्र) है।'

बाबू ने एक मिनट रुककर उत्तर सुना। सुनकर मंद-मंद मुस्कराते हुए दौड़ लगाई। मामा कमरे में बैठे हुए सुनते रहे, बाबू बरामदे में अनीत से बातें करता रहा।

—'मालूम है अनीत, दिल्ली से मेरे मामा कोलकाता आ गए हैं। ये देखो, मुझे कितनी सारी टॉफी दी हैं...और तुम्हारे लिए भी दी हैं। लोगे? ये लो।' लेकिन अनीत तो बड़ा ही असभ्य लड़का है। चुप रहा। थैंक्यू भी नहीं कहा। बाबू ही फिर बोला—'पॉकेट में रख लो। रख लो। फिर चलो, हम क्रिकेट खेलें। लेकिन मैं एम.सी.सी. और तुम इंडिया। अच्छा! हेड या टेल? नहीं हुआ, नहीं हुआ, नहीं हुआ, तो फिर तुम ओपेन (शुरू) करो।'

सारे दिन बाबू अनीत के साथ खेलता है। पूरी दोपहर। जब तक दीदी स्कूल से नहीं लौट आती; जब तक जगन्नाथ दादा आकर नहीं कहते—'चलो बाबू, तुम्हारा शरीर पोंछ दें, चलो बाबू, दूध पी लो।' बाबू का स्कूल सुबह लगता है। फिर वो पूरे दिन लंबायमान हो लेटा रहता है। शाम मानो होना ही नहीं चाहती। बाबू घर में करे भी क्या? मां तो धूप में निकलने नहीं देती। भाग्य से अनीत है। अनीत आता है। अनीत की दीदी भी स्कूल से शाम को लौटती हैं, तब तक वो बाबू के साथ खेलता रहता है। बाबू और अनीत की बड़ी दोस्ती है। लेकिन बाबू अनीत को डांटता-डपटता रहता है। लेकिन अगर मां किसी दिन बाबू को डांट-डपट देती हैं तो बाबू का मिजाज खराब हो जाता है और बाबू उस दिन अनीत को थोड़ा-सा डांट देता है। लेकिन अनीत बड़ा अच्छा लड़का है। डांट खाकर झगड़ा नहीं करता। बस, कभी-कभी रो पड़ता है, तब बाबू को ही तो सांत्वना देनी पड़ती है। उसे बहलाना पड़ता है। अभी उसी दिन तो नीले कांच का फूलदान तोड़ने पर बाबू को खूब डांट पड़ी। उस दिन बाबू ने अनीत के पास जाकर ही तो दुखड़ा रोया था, 'जानते हो अनीत, मेरी क्या गलती? जगन्नाथ भाई ने फूलदान एकदम टेबुल के किनारे रख दिया, मैं दौड़ा जा रहा था, फूलपत्ती शर्ट में फंस गए तो बस, फूलदान फटाक से फर्श पर गिर पड़ा। मैंने क्या जान-बूझकर तोड़ा था, बताओ? मां ने मुझे कितनी बुरी तरह डांट दिया। क्या उनका इस तरह डांटना ठीक था?'

अनीत बोला—'नहीं भाई बाबू। सचमुच इस तरह नहीं डांटना चाहिए था। जान-बूझकर तो तुमने उसे तोड़ा नहीं। ऐसा कितनी बार होता होगा। उस दिन मौसी के हाथ से चाय की प्लेट गिर गई, क्या किसी ने मौसी को डांटा? बड़े लोग ऐसा अन्याय करते ही रहते हैं। चलो, हम लोग खेलें। तुम ये सब सोचकर दुःखी मत होओ।'

बाबू और अनीत टेलीफोन पर भी गप्प करते। दिन में बाबू अनीत को चौदह बार फोन करता। जब-कभी मन में आता, फोन उठा, नंबर घुमा देता। अनीत हमेशा तो घर में होता नहीं। बुआ के घर जाता है। या फिर पार्क चला जाता है। लेकिन अधिकतर तो घर में ही रहता है। 'अनीत, मालूम

है, काका ने मुझे एक एयरगन खरीद कर दी है। देखोगे? सच्ची-मुच्ची की एयरगन।'

अनीत कहता—'देखूं, देखूं।'

—'तो फिर आओ हमारे घर।'

—'ठहरो, पहले मां से पूछ लूं।'

अनीत की मां बहुत अच्छी है। कभी मना नहीं करती। बाबू के पुकारते ही अनीत जा पहुंचता। जितनी देर इच्छा होती, उसके घर रहता। मां जब बाबू को सुलाती तब अनीत भी बाबू के पास लेट जाता, बाबू के तकिए पर सिर रख। दोनों जने गप्प लगाते-लगाते सो जाते। कितने-सारे किस्से-कहानियां। बुआ के घर की बातें, स्कूल की बातें, मामा के घर की बातें।

अनीत ज्यादा बात नहीं करता। अनीत कहानियां सुनता। बाबू अनीत को कहानी सुनाते-सुनाते कभी नहीं थकता। भूत की कहानी, चोर की कहानी। बाघ का शिकार करने की कहानी। सारी कहानियां अनीत को नई लगतीं। सारी कहानियां वह अवाक् हो सुनता। हां, कभी-कभी अनीत बाबू को अपने स्कूल की बातें जरूर बताता। उनका स्कूल अलग है फिर भी काफी-कुछ बाबू वगैरह के स्कूल के जैसा ही है। अनीत की आंटियां (दीदी) मानो एकदम बाबू की आंटियां हों।

लेकिन अनीत दीदी के पास बिल्कुल नहीं जाना चाहता। दीदी के सामने उसे बड़ी शर्म आती है। एक दिन उनकी बातें सुन दीदी ने खीसें निपोर दी थीं। उसी दिन से अनीत दीदी को देखते ही छुप जाता है। चारपाई के नीचे, टेबुल के नीचे या फिर अलमारी के कोने में या जहां-कहीं छुपने की जगह मिले वहां। किसी भी हालत में दीदी के सामने नहीं पड़ना चाहता। मां के पास अवश्य जाता है। मां तो उस पर हंसती नहीं। अनीत के साथ बाबू जब गप्प लगाता तब मां चुपचाप सुनती रहतीं। कभी-कभी तो उनकी बातें सुनते-सुनते मां खुद ही सो जातीं।

वो केवल गप्प-भर तो न लगाते। बाबू अनीत के साथ हो-हल्ला भी तो कम न करता? इसी कमरे में तो वो खेलते हैं। इस कमरे में दादा-दादी की बड़ी-बड़ी चारपाइयां एक साथ लगी हुई हैं और उसी चारपाई पर बाबू और अनीत का महासाम्राज्य जमता है। ये चारपाई क्या दूसरी चारपाइयों जैसी है? बिल्कुल नहीं। इतनी बड़ी चारपाई, इतनी ऊंची चारपाई, इस पृथ्वी पर क्या कहीं और है? इतनी सुंदर, इतनी चौड़ी, इतनी ऊंची! बाबू अनीत के साथ दिन-भर यहां खेलता है। बड़े-बड़े खंभों जैसे पाए, जिन पर पंजों जैसे नाखून खुदे हुए, उसके चारों सिरों पर बारहों महीने चार छत्र बंधे रहते हैं, जिन पर मच्छरदानी लगाई जाती है। चारपाई की चौड़ी और ऊंची पाटी पर अंगूरलता और पद्मलता की आकृति खुदी हुई है। उस पर चढ़कर बाबू बड़े मजे से चल सकता है, वहां चढ़ने पर सिर पर लगी छतरी तक उसका हाथ भी पहुंच जाता है। चारपाई पर ही कितने खेल खेले जाते हैं। उसके नीचे घुसकर अंधेरे में खेल खेला जाता है, उसके ऊपर चढ़, तकिया और चादर ले खेलता है, मच्छरदानी गिराकर खेलता है। कभी मच्छरदानी से तंबू बनता, कभी पाल, कभी जंगल और कभी राजघराना। अनीत और बाबू को सारे खेल आते हैं। इसके अलावा चारपाई के चारों ओर दौड़-दौड़ खेलते, चारपाई पर कूद-कूद, छलांग लगा खेलते, फिर चारपाई के पायों को पेड़ मान उन पर चढ़ते....तरह-तरह के खेल खेलते। चारपाई पर बाबू को बड़ा अभिमान है। अक्सर वो बड़े गर्व से अनीत से कहता, 'जानते हो अनीत, ये मेरे दादा-दादी के विवाह के समय की चारपाई है, ये देखो, ये मेरे दादा-दादी हैं।' दीवार पर टंगी तस्वीर में चंदन की माला पहने दादा-दादी अनीत की ओर देख-देख हंसते।

बाबू और अनीत का राजसी रूप कभी न जाता। दोपहर को इस कमरे में वही राजा होते। उस दिन जब वे कोलंबस-कोलंबस खेल रहे थे, मां दूध की डेकची हाथ में लिए ज्योंही कमरे में घुसी त्योंही बाबू चीख पड़ा—'ओ क्या मां, ओ क्या मां! सावधान। डूब जाओगी। यहां तो गहरा समुद्र है, अटलांटिक ओशन।' अनीत—'जल्दी-जल्दी मां को एक जलडिंगी में डाल दो—मां, मां जल्दी-जल्दी खड़ी हो जाओ, यही है लाइफबोट।' मां के सामने फर्श पर एक तकिया धम्म से गिरा।...'मां ये लो लाइफबोट।' सुनकर मां ने जोर से डपटा—'क्या हो रहा है बाबू? देख नहीं रहे, हाथ में गरम दूध है! क्या ऐसे चौंकाया जाता है? अगर गिर पड़ता तो? मैं भी गिर पड़ती। हर समय खेलते ही रहते हो।' उस दिन अनीत को थोड़ी-सी शर्म आई थी। बाद में बाबू को डांटा था—'सचमुच बाबू, तुम बड़ा हो-हल्ला करते हो। गरम दूध के पतीले का ध्यान रखना पड़ता है। अगर मां जल जाती तो?' निश्चय ही मां की डांट-डपट से बाबू उस दिन निरुत्साहित न हुआ। वो मां से एकदम बोला—'अच्छा मां, अब हम कोलंबस-कोलंबस नहीं खेलेंगे। अब हम समुद्र मंथन खेलें। तकिए को समझो मैनाक पर्वत और कमरे को मानो समुद्र...और तुम बनो मोहिनी और तुम्हारे हाथ में जो

है उसे मानो अमृतकलशी, अच्छा? अनीत हुआ असुरों का राजा और मैं देवताओं का राजा। क्यों?' मां हंसकर बोली—'सचमुच बाबू! तुमको नाटक करना भी आता है।' बाबू चीख कर बोला—'बाबू! अब बाबू कौन? मैं इंद्र।' ये वाला कमरा कभी सहारा बन जाता, कभी समुद्र, कभी महाकाश। यहां अनीत और बाबू का अंतहीन हो-हुल्लड़ मचता ही रहता, जब तक दीदी लौट न आएं। मां कहती—'कमरे की क्या हालत बना रखी है। इस चारपाई पर तो दिन-भर मानो युद्ध होता रहता हो।'

हर समय बात करना अच्छा लगता है क्या? कभी ये चारपाई बन जाती खानाबदोशों का तंबू, कभी जहाज, कभी एरोप्लेन। कभी सचमुच का युद्धक्षेत्र। तकिया लेकर बाबू और अनीत का भयंकर युद्ध चलता ही रहता। अनीत बड़ा स्नेही लड़का है, केवल यही उसका दोष है। जब तीन पहिएवाली साइकिल लेकर कमरे में साइकिल रिक्शा चलाता है तब अनीत किसी भी कीमत पर रिक्शावाला नहीं बनना चाहता। वो केवल पैसेंजर बनता है। बेचारे बाबू को किसी भी दिन पैसेंजर बनने का मौका नहीं मिलता। वो बेचारा रोज-रोज रिक्शावाला बनता है। हालांकि जब बाबू खानाबदोश बनता है तब अनीत कभी-कभी ऊंट बन जाता है। इसके अलावा अनीत कभी भी कोलंबस बनना नहीं चाहता, बाबू को कोलंबस बनाकर अनीत केवल नाविक बन खुश हो जाता है। या फिर चांद पर पहुंचकर अनीत केवल रॉकेट का ड्राइवर बन चंद्रमा के चारों तरफ चक्कर काटता है। बाबू वहां उतर चांद की धरती के पत्थर चुन लाता है। इन सब मामलों में अनीत वास्तव में बहुत अच्छा है। असभ्य बर्बर देश में जब बाबू अभियान छेड़ता है तब अनीत होता है उसका देहरक्षक। बाबू बनता है फलूदा। अनीत कभी तापस, कभी जटायु।

पहले जब अनीत ईस्टबंगाल (पूर्वी बंगाल) का प्लेयर बना—तब अनीत मोहनबागान का प्लेयर बना। और मोहनबागान हमेशा हारता! अब चूंकि श्यामा थापा ईस्टबंगाल छोड़ चला गया है, इसलिए बाबू भी ईस्टबंगाल में नहीं है। श्यामा थापा चूंकि काका का मित्र है इसलिए बाबू को श्यामा थापा के पक्ष में रहना अच्छा लगता है। बाबू मोहनबागान के पक्ष में फटाफट गोल करता है और बेचारा अनीत ईस्टबंगाल के पक्ष में रहकर हमेशा गोल लेता है। हर खेल में यही होता है। चारपाई से छलांग लगा धप-धप जमीन पर गिरने के खेल में भी। उसमें भी वो बेचारा हर बार खाट के आस-पास ही गिरता है। कभी भी बाबू की तरह वो हनुमान जैसी छलांग लगाकर उस शीशेवाली अलमारी के पास तक नहीं पहुंच पाता। चारपाई की पाटी पर चढ़, चारपाई के सिरे पर लगे मच्छरदानी लगाने वाले डंडे को पकड़ जब वो ट्राम बन चलते हैं तब अनीत बनता है पैसेंजर और बाबू को बना देता है कंडक्टर। चारपाई के नीचे घुसकर जब वो स्कूल-स्कूल खेलते हैं तब अनीत हमेशा छात्र होता है और बाबू हमेशा टीचर (शिक्षक)। ये सब देखो तो अनीत जैसा अच्छा मित्र मिलना मुश्किल होता है।

फिर भी आजकल बाबू का मन उदास है। मां ने कहा था कि इस बार पूजा के उपलक्ष्य में बाबू को एक भाई प्रेजेंट करेंगी। यही सोच बाबू बेहद चिंतित है। अनीत से कहता—'देखो अनीत, मेरे लिए एक भाई लाया जा रहा है। किसे मालूम भाई कैसा होगा। कौन जाने रुणटु के भाई जैसा दुष्ट शैतान होगा या नहीं। रुणटु का भाई तो बड़ा ही शैतान है, उसने रुणटु की सब किताबें-कापियां फाड़ दी हैं, रबर चबा डाली है, अगर पेंसिल हाथ में पड़ जाए तो कुछ पूछो ही मत, जमीन पर ठोक-ठोक उसकी नोक तोड़ देता है। कुछ कहने से कोई फायदा नहीं। कुछ कहते ही ऐसा चिल्लाएगा मानो बूथ साहब का बच्चा हो और रुणटु की मां दौड़कर आ जाएंगी और डांटेंगी—रुणटु, भाई को फिर रुला रहे हो! भाई अनीत! मुझे तो बड़ा डर लग रहा है। मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। मुझे भाई-वाई कुछ नहीं चाहिए।'

अनीत चुपचाप सुनता रहता। फिर कुछ सोचकर कहता, 'लेकिन बाबू, इसका मतलब ये तो नहीं कि सारे भाई इतने दुष्ट होंगे? अच्छे भाई भी तो होते हैं? तुम्हारा भाई तो अच्छा भाई हो सकता है। तुम्हें भैय्या-भैय्या कहकर बुलाएगा, तुम्हारी सारी बातें मन लगाकर सुनेगा, तुम्हारे साथ हमेशा खेलेगा, ऐसा भी तो हो सकता है?' हां, अगर ऐसा हो तब तो निश्चय ही बाबू को कोई आपत्ति न होगी। फिर भी मन में शांति नहीं, कौन जाने, भाई कैसे स्वभाव वाला होगा। अच्छा होगा या दुष्ट होगा? जब तक वो घर न आ जाए तब तक ये जानने का तो कोई तरीका नहीं!

मां जब भाई को नर्सिंग होम से लाने गई तब अनीत ने बाबू का साथ क्षण-भर के लिए भी नहीं छोड़ा। हर क्षण उसे सांत्वना देता रहा—'देखो बाबू, तुम्हारा भाई बड़ा अच्छा होगा।' निश्चय ही ईश्वर ने बाबू के मन की बात सुन ली। बाबू को भाई नहीं चाहिए सुनकर ईश्वर ने उसके लिए एक बहन भेज दी। बहन लेकर मां जब घर लौटी तो बाबू खुशी से फूल उठा। ओ मां! इत्ती-सी बहन है। ये तो गुड़िया जैसी लगती है। बाबू दौड़कर गया और बरामदे के

कोने की टूटी ईंट के छेद में मुंह डाल अनीत को बुलाया—'अनीत, अनीत!' अनीत आया। 'जानते हो मेरी कितनी सुंदर एक बहन आई है! एकदम बिलायती गुड़िया जैसी। गुलाब के फूल जैसे हाथ-पैर और मुंह...प्रदीप की पतली-पतली बातियों जैसी छोटी-छोटी उंगलियां, उंगलियों में नाखून भी हैं। उनसे भी छोटे, सफेद मानो रुई हो। इतनी छोटी-सी एक नाक, छोटे-छोटे होंठ और पोपला मुंह। मुंह एकदम पोपला है, हमारी उपले थापने वाली बुढ़िया जैसा। और मालूम है, भौंहें भी नहीं हैं। खाली कपाल पर इतनी बड़ी-बड़ी काली आंखें।' अनीत ने अवाक् हो सुना—'आओ, देखोगे? आओ। कितनी सुंदर है।' बहन बिल्कुल नहीं रोती, केवल भूख लगने पर आंव-आंव कर पुकारती है... बिल्कुल बिल्ली के बच्चों की तरह।

बहन की बात अनीत चुपचाप सुनता रहा। चुपचाप खड़ा बहन को देखता रहा। बाबू उच्छ्वास-भरे स्वर में बोला, 'लेकिन बाप रे बाप, अगर इसकी नींद टूट जाए तो इतना भयंकर बवाल मचेगा।' बहन भी बूथ साहब का बच्चा बनना जानती है। इसलिए मां ने दोपहर को शोर मचाने से मना किया है। चारपाई पर खेलना मना। चारपाई से उछलना मना। क्योंकि बहन चौंक पड़ती है। बाबू और अनीत दादा-दादी के विवाह के अवसर पर मिली चारपाई पर अब और नहीं खेल सकते। उनके खेलने की जगह के ठीक बीचोबीच दो तरफ दो तकियों से दीवार जैसे घेरे के बीच एकदम राजकन्या की तरह बहन नरम-नरम गुड़िया-सी सोई पड़ी रहती है। मां कहती है—'बाबू, बहन का जरा ध्यान रखना। दोपहर में शैतानी मत करना। बहन रोए नहीं।'

और बाबू क्या कहता? बाबू घुटने टेक, उचक कर, कुहनी के बल बैठ, दोनों हथेलियां गाल पर रख बड़ी-सी काली चींटी जैसा बन बहन के पास बैठता। बैठकर कहता—'ओ मेरी बहन, बहनिया, धनधनिया, मनमनिया, टुनटुनिया, ओ मेरी कुतूर-कातूर, पुतुर-पातूर, इल्लू, बिल्लू, गिल्लू, ओ मेरी सुंटि-मुंटि बहन।' उसके प्यार का तरीका देख मां हंसती नहीं बल्कि सोचती कि लो, इसने तो अच्छी कविता बना डाली। बाबू को अब अनीत के साथ खेलने का समय बिल्कुल न मिलता। खेले कब? बहन का ध्यान रखना पड़ता है। बाबू अगर ध्यान न रखे तो बहन का ध्यान कौन रखेगा? दीदी तो स्कूल चली जाती है। मां को कितने-सारे काम करने पड़ते हैं। बाबू बहन के पास से हिलता तक नहीं। बहन को वो कहानियां सुनाता रहता। कहता—'बहन सोना है, चांद का कोना है, तुम्हें मालूम है तुम कौन हो? तुम हम सबकी 'स्नो-व्हाइट' हो। लेकिन तुम्हारी कहानी कुछ अलग है। तुम्हारी कथा में कोई दुख नहीं। केवल अच्छी-अच्छी बातें हैं। तुम्हारी कोई विमाता नहीं। और मेरे जैसा बड़ा भाई है तो तुम्हें किस बात की चिंता? संसार की किसी भी डायन में ये शक्ति नहीं कि वो तुम्हारा जरा-सा भी नुकसान कर दे। आने दो ना, मैं डायन को देख लूंगा। तुम डरना मत बहन। उपले पाथनेवाली डायन जैसी दिखाई तो देती है, लेकिन असल में वो बड़ी अच्छी औरत है। तुम्हारे जैसी ही पोपली है। वो जैसे ही हंसेगी तुम समझ लोगी कि वो डायन नहीं। बहन, जानती हो! जैसे ही तुम थोड़ी बड़ी होओगी। वैसे ही तुम्हें घोड़े की पीठ पर बैठा, मैं साइबेरिया घुमाने ले जाऊंगा। सा-इ-बे-रि-या, उड़ंतू हंस जहां उड़कर चले जाते हैं और फिर लौट आते हैं... वो बहुत-बहुत दूर है।' बहन कुछ कहती नहीं। केवल फिक-फिक कर हंस देती और अपनी गोल-गोल मुट्ठियां घुमाकर बाबू के लंबे-लंबे गुच्छेदार बालों की चुटिया पकड़ अन्यमनस्क भाव से खींचती। बाबू चीख पड़ता—'ऊ ई ई ई ई...बहन। ये क्या भाई, ये क्या भाई, बाल मत खींचो, छीः।' लेकिन उस पर गुस्सा कैसे करे? बहन तो एकदम रसगुल्ले जैसी है। गोल-गोल बन सोई पड़ी रहती है, चारों हाथ-पैर एक साथ शून्य में चलाती रहती है। दोनों पैर दो मुट्ठियों से पकड़ नाक के सामने ले जा गंभीर भाव से देखती रहती है। ये देख बाबू की हंसी न थमती।

'ओ बहन री, ओ पुंटि-मुंटि, कुंति-खुंति, ओ कतर-मतर-फतर, एक बार बड़ी हो जाओ ना। तुम्हें मैं अपने रिक्शे में पैसेंजर बना बैठा लूंगा। देखो ना! और राकेट चलाते समय तुम्हें बनाऊंगा को-पायलट...क्यों? और जब तुम क्रिकेट खेलना सीखोगी तब बीच-बीच में तुम एम. सी. सी. और कभी मैं एम. सी. सी....क्यों?' बहन सारी बातें सुन हाथ-पैर चलाते-चलाते हंसती। कुछ कहती नहीं।

बहन को देखने मामा आए। बाबू की मुट्ठी में टॉफी दे बोले—'दिखाओ, दूसरा हाथ दिखाओ, अनीत की टॉफी—'

बाबू ने थोड़ा-सा शरमाकर हल्के-से मुस्कराकर बताया—'अनीत? अनीत अब नहीं आता मामा।'

'क्यों क्या हुआ उसे?' मामा ने चिंतित हो प्रश्न किया।

बाबू शून्य भाव से बोला—'उसके यहां भी एक बहन हुई है। खेलेगा कब? बहन का ध्यान रखना पड़ता है ना? बल्कि तुम बहन के लिए ही एक टॉफी दो, दांत निकलने पर खाएगी।' ❖

कीर्ति चौधरी की कविताएं

अनुभव

नभ के कोने में एक सितारा कांपा,
मुझ को लगा कि हां,
हर चीज कभी तो
यों ही ऊपर चमकेगी।
निःस्तब्ध लहर का पानी
कंकड़ से कांपा,
मैंने जाना—
कम-से-कम जड़ता एक बार तो सिहरेगी।
सुनसान जंगलों की लतरों में,
फूल खिले,
खुशबू बोली—
हां, एक बार सब पर यह खुशबू बिखरेगी।
मंजिल अब तय थी,
मैंने प्रतिमा जब पाली,
आस्था डोली—
सपना ही सुंदर,
मूरत तो सब के जैसी, यह क्या देगी!

फूल झर गए

फूल झर गए।
क्षण-भर की ही तो देरी थी,
अभी-अभी तो दृष्टि फेरी थी—
इतने में सौरभ के प्राण हर गए :
फूल झर गए।
दिन-दो दिन जीने की बात थी,
आखिर तो खानी ही मात थी :
फिर भी मुरझाए तो व्यथा भर गए—
फूल झर गए।
तुम को औ' मुझ को भी जाना है—
सृष्टि का अटल विधान माना है :
लौटे कब प्राण गेह बाहर गए—
फूल झर गए।
फूलों सम आओ हंस हम भी झरें
रंगों के बीच ही जिएं और मरें
पुष्प अरे गए किंतु खिल कर गए
फूल झर गए।

एकलव्य

चाहा बस तुमने है!
दाहिना अंगूठा यह!
यह तो समर्पित था,
मेरा हर लक्ष्य-उपलक्ष्य,
उपकरण, साध्य—
चरणों में पहले से अर्पित था।

बाण यह किसी का,
प्रत्यंचा भी उसी की थी।
हाथ ये किसी के,
इन हाथों की चंचल गति—यह भी उसी की थी!

मैंने तो इन को निर्माल्य-सा चढ़ाया था।
लक्ष्य अगर बेधे थे,
बाण अगर साधे थे—
मानो उन चरणों पर चढ़े हुए पुष्पों को
बार-बार माथे से लगाया, सिर नवाया था।
सब था तुम्हारा—
अरे, सब-कुछ तुम्हारा!
तुम्हीं उस से अभिज्ञ रहे।

अथवा वह मेरा समर्पण सब झूठा था।
मेरी वह निष्ठा,
वह प्राणों की आकुल प्रतिष्ठा
जिसे अर्पित थी—

तुम थे नहीं!
सिर्फ माटी की मूरत
क्या
माटी की मूरत थी!

❖

शीलन

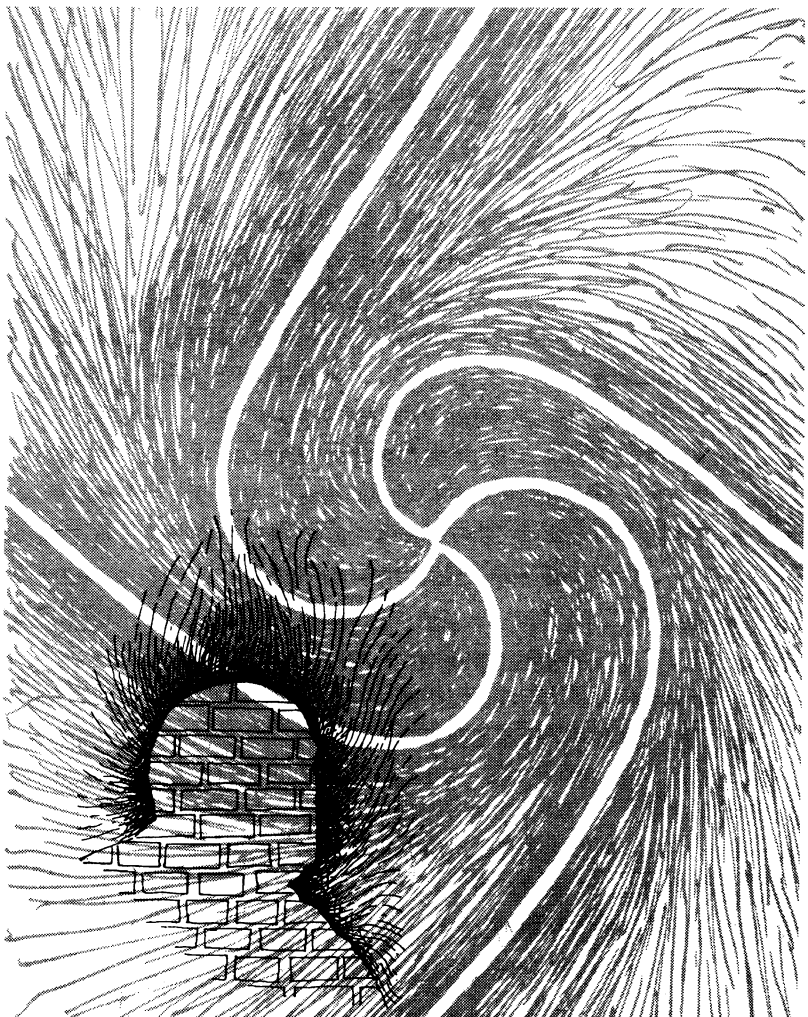

ज्ञान के विषय में आज्ञा और हुक्म नहीं चल सकता, किसी भी अन्य काम के लिए हुक्म चल सकता और हुक्म का पालन भी हो सकता है। कोई एक गोल वस्तु है, तो हम आपको यह आज्ञा नहीं कर सकते कि आप उसको त्रिकोणात्मक समझें। उसमें हमारी आज्ञा काम नहीं करेगी। जो गोल चीज है, उसका गोल ही ज्ञान होगा। ज्ञान के विषय में आज्ञा कुंठित होती है, यह समझना चाहिए।

—**विनायक नरहरि भावे 'विनोबा'**

जो वृत्ति अभी अपनी आत्मा की नहीं हुई है—उसे एकदम अंगीकार कर लेना भयावह ही है। अंतरंगी आसक्ति होते हुए संन्यासी हो जाना समाज का और अपना अधःपतन ही है। जिसके मन में शिक्षा के प्रति आस्था नहीं है, यदि वह स्कूल में पढ़ाता है तो उससे उसको तो संतोष होता ही नहीं है, राष्ट्र की भावी पीढ़ी की भी अपार हानि होती है। भले ही समाज में हमारा वर्ण यदि छोटा समझा जाता है तब भी उस वर्ण के अनुरूप समाज की सेवा करते रहने में ही विकास होता है। पानी की अपेक्षा दूध कीमती है; पर मछली पानी में ही बढ़ती है, दूध में तो वह जीवित भी नहीं रहेगी।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

पांडुरंग सदाशिव साने

वर्ण का अर्थ क्या है? आश्रम का अर्थ क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि इस पर अधिक गंभीर विचार नहीं किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि अपने-अपने वर्ण के अनुसार सबको आचरण करना चाहिए। लेकिन वर्ण के अनुसार आचरण करने का अर्थ क्या है? इसका स्पष्टीकरण यह किया जाता है कि ब्राह्मण को ब्राह्मण-धर्म के अनुसार, वैश्य को वैश्य-धर्म के अनुसार और शूद्र को शूद्र-वृत्ति के अनुसार आचरण करना चाहिए।

ऐसा बोलने और कहने में एक बात मान ली जाती है कि माता-पिता के ही सारे गुण-धर्म बच्चों में आते हैं; परंतु प्रत्यक्ष संसार में इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। यह बात नहीं है कि माता-पिता की रुचि-अरुचि बच्चों में आती ही है। माता-पिता से एकदम भिन्न रुचि के बालक भी हमें दिखाई देते हैं। जैसे कि हिरण्यकशिपु के यहां प्रह्लाद पैदा हुआ।

लेकिन यदि मां-बाप के गुण-धर्म बालक में न आएं तो भी बच्चे बचपन से ही अपने आस-पास जो बातें देखते हैं, उनका प्रभाव उनके जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता। उस वातावरण का उनके मन पर असर होगा। कीर्तनकार का बच्चा बचपन से ही घर पर कविता-आख्यान आदि सुनेगा। गवैये का बच्चा गाने, तानपूरा, तबले, पेटी आदि के संपर्क में बड़ा होगा। बुनकर का बच्चा छोटा करघा, पींजन, ताने-बाने, घोटे आदि से परिचित रहेगा ही। किसान के लड़के को हल, बक्खर, बोना, नींदना, खोदना, मोट, नाड़े आदि की आदत रहती है। सिपाही का लड़का घोड़े पर बैठेगा, भाला चलाएगा, तलवार चलाएगा। बनिए का लड़का तराजू तोलेगा, चीजों का भाव बताएगा, अच्छी पुड़िया बांधकर देगा, आय-व्यय का हिसाब रखेगा। चित्रकार का लड़का रंगों में मस्त रहेगा। चर्मकार का लड़का चमड़े से खेलेगा। इस प्रकार जिन बालकों के आस-पास जो वातावरण होगा, उसके अनुसार ही वे बनेंगे।

क्या मनुष्य केवल परिस्थितियों का दास है? आस-पास के वातावरण का असर अवश्य होगा, लेकिन यदि बच्चे में कुछ हुआ तभी तो परिणाम होगा। यदि बीज ही न हुए तो कितना ही पानी डालने से अंकुर थोड़े ही उगेंगे! पहले बीज होने चाहिएं। जन्मतः अंदर कुछ-न-कुछ होना चाहिए।

प्राचीन काल से ही ऐसा माना गया है कि माता-पिता के ही गुण-धर्म बच्चों में आते हैं। वातावरण के कारण माता-पिता का वर्ण ही बच्चों के जीवन में आना संभव दिखाई देता है। लेकिन चूंकि उस समय के प्रयोग और संशोधन के अनुसार उस समय जो निश्चित कर लिया गया था, वह आज भी मानना चाहिए—यह बात नहीं है। आज शास्त्र बढ़ गए हैं। आज अधिक शास्त्रीय दृष्टि से वर्ण-परीक्षा की जाती है।

यह सिद्धांत त्रिकालाबाधित है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार आचरण करना चाहिए। हमने चार

वर्णों की कल्पना की है। लेकिन यह कल्पना बहुत व्यापकता से की गई है। ज्ञान की उपासना करने वाला ब्राह्मण वर्ण। लेकिन ज्ञान सैकड़ों प्रकार का है। वेद अनंत हैं। समय के बढ़ने के साथ ज्ञान भी बढ़ता जा रहा है। मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, पुनर्जन्मशास्त्र, सृष्टिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र, वातावरणशास्त्र, विद्युतशास्त्र, संगीतशास्त्र, शरीरशास्त्र, शल्यक्रियाशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, उदभिज्जशास्त्र—इस प्रकार सैकड़ों शास्त्र हैं। अतः ज्ञान की उपासना करना एक वर्ण हो गया। लेकिन ये एक वर्ण के सैकड़ों अंग हैं।

यही बात क्षत्रिय वर्ण की है। विमान-युद्ध, नाविक-युद्ध, जल-युद्ध, वात-युद्ध इस प्रकार सैकड़ों तरह के युद्ध हैं।

वैश्यवर्ण। कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्य का अर्थ है—वैश्यकर्म। लेकिन इनमें प्रत्येक के सैकड़ों भाग हैं। कोई अफीम पैदा करता है तो कोई तंबाकू बोता है। कोई कपास उगाता है तो कोई मूंगफली बोता है। कोई संतरे लगाता है तो कोई अंगूर लगाता है। जिस प्रकार खेती के सैकड़ों प्रकार हैं उसी प्रकार व्यापार के भी सैकड़ों प्रकार हैं। यह कपास का व्यापारी है, यह अनाज का व्यापारी है, यह घी का व्यापारी है, यह तेल का व्यापारी है, यह मिल-मालिक है, यह लोहे का व्यापारी है। इस प्रकार वैश्यों के सैकड़ों प्रकार हैं।

हजार तरह के धंधे होने के कारण हजारों जगह मजदूरी करने वाले भी अनेक कामों में लगते हैं।

इन चार वर्णों में हजारों प्रकार समा जाते हैं। इन हजारों प्रकारों में से बच्चा कौन-सा काम अपने हाथ में ले? बच्चे को किस वर्ण के किस भाग की उपासना करनी चाहिए?

'वर्ण' शब्द का अर्थ है—रंग। हम कहते हैं कि आकाश का वर्ण नीला है। मराठी में वर्ण शब्द से वाण बना है। 'गुण नाहीं पण वाण लागला' नामक कहावत में वाण शब्द का अर्थ है—रंग। मैं अमुक वर्ण का हूँ—इसका यही मतलब है कि मैं अमुक रंग का हूं।

ईश्वर ने हमें कौन-सा रंग देकर भेजा है? कौन-से गुण-धर्म देकर मुझे भेजा है? 'कुहु' बोलना कोकिल का जीवन-रंग है। मधुर सुगंध देना गुलाब का जीवन-धर्म है। हममें से कौन-सा रंग, कौन-सी गंध बाहर निकलेगी? हमें किस-किस रंग का विकास करना है?

बच्चों के गुण-धर्म की परीक्षा किए बिना यह कैसे मालूम होगा? इस बात की शास्त्रीय शोध की जानी चाहिए कि बालक कौन-सा रंग लेकर पैदा हुआ है। स्मृति में कहा गया है कि जन्मतः हम सब एक ही वर्ण के होते हैं। पहले हमारा कोई वर्ण नहीं होता है। वर्ण नहीं होता—इसका क्या मतलब? वर्ण होता है, लेकिन वह अप्रकट होता है, अस्पष्ट होता है। आठ वर्ष की आयु तक हम वर्णहीन होते हैं। जब वर्ण समझने लगे कि उपनयन करना चाहिए। यह एक प्रश्न ही है कि जब तक वर्ण नहीं मालूम हो, तब तक उपनयन कैसे किया जाए?

जब बालक आठ-दस वर्ष का होता है तब हमें उसके गुण-धर्म मालूम होने लगते हैं। किसी में पढ़ने का शौक दिखाई देता है, कोई गाता रहता है, कोई बजाता रहता है, कोई घड़ी सुधारा करता है, कोई बगीचे में खेला करता है, कोई कुश्ती लड़ता है, कोई पक्षियों को गोफन से मारता है। इस प्रकार बच्चों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। बच्चों के भिन्न-भिन्न गुण-धर्म दिखाई देते हैं।

स्वतंत्र देशों में शिक्षा में भिन्न प्रकार के प्रयोग होते हैं। बच्चों के वर्ण की शोध करने का प्रयत्न किया जाता है। बैठकखाने में सैकड़ों वस्तुएं रखते हैं। वहां रंग होते हैं, वाद्य होते हैं, यंत्र होते हैं, पुस्तकें होती हैं, बाहर घोड़े होते हैं, फूल होते हैं, अनाज बोया हुआ होता है, साइकिलें होती हैं। शिक्षक यह देखते हैं कि बच्चे का मन किस बात में लगता है। इन बाल-रूपी तितलियों को वहां छोड़ दिया जाना चाहिए और यह नोट करना चाहिए कि घूम-फिरकर और मग्न होकर वे कहां ज्यादा देर तक रहते हैं। बहुत दिनों के निरीक्षण के बाद जाकर कहीं शिक्षक को बालक की रुचि-अरुचि का पता लगता है। फिर वह शिक्षक बालक के अभिभावक को बताता है कि ऐसा लगता है कि तुम्हारा बच्चा चित्रकार बनेगा, तुम्हारा बच्चा उत्कृष्ट माली बनेगा, तुम्हारे बालक की बुद्धि यंत्रों को सुधारने में रमती हुई प्रतीत होती है। बच्चे के गुण-धर्म मालूम होने के बाद, जहां उन गुणों का विकास हो, वहां उसे भेजना बालक के अभिभावक एवं शिक्षा-विभाग का कर्तव्य हो जाता है।

उपनयन का अर्थ है—गुरु के पास ले जाना। कौन-से गुरु के पास ले जाए? उस गुरु के पास ले जाना चाहिए जो बालक के विशेष गुणों का विकास कर सके। जिस बालक की रुचि संगीत में हो, उसे गणित सिखाने वाले शिक्षक के पास ले जाने से क्या लाभ? वह तो बालक की संगीत की रुचि समाप्त कर देगा। बाल-कोकिल का गला दबा दिया

जाएगा। यह बात मानो बालक की हत्या करने-जैसी ही होगी।

जिस राष्ट्र में, जिस राज्य-पद्धति में व्यक्ति के वर्ण की शास्त्रीय शोध होती है और उसके वर्ण के विकास के लिए पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है और इस वर्ण-विकास के मार्ग की सारी कठिनाइयां दूर की जाती हैं, वह राष्ट्र बहुत बड़ा है। वहां की राज्य-पद्धति आदर्श समझी जानी चाहिए।

लेकिन यह बिना स्वराज्य के कैसे संभव होगा? इसके लिए ही स्वराज्य की आवश्यकता है। व्यक्ति के विकास के लिए स्वराज्य की जरूरत है। स्वराज्य की इसलिए आवश्यकता है कि उसके द्वारा व्यक्ति की ईश्वरप्रदत्त देन विकास करती है। जब तक स्वराज्य नहीं मिलता तब तक सच्चा वर्ण नहीं बन सकता, तब तक वर्ण नाममात्र के लिए रहेगा। लेकिन व्यक्ति के गुण-धर्म का शास्त्रीय परीक्षण और निरीक्षण न हो सकेगा। विकास के मार्ग के रोड़े दूर नहीं होंगे।

आजकल स्कूल में शिक्षक क्या अनुभव करता है? आज भिन्न-भिन्न गुण-धर्म वाले बालकों की वहां हत्या हो रही है। सबको हमेशा एक ही शिक्षा दी जाती है। आज वर्ण-विकास के लिए कोई अवसर नहीं है, दरिद्रता के कारण आज कोई भी बालक अपनी रुचि की शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाता। सच्चा वर्णाभिमानी सबसे पहले स्वराज्य के लिए अपना सर्वस्व देने को तैयार रहेगा।

कोई धनी व्यक्ति ही अपने वर्ण के अनुसार आचरण कर सकता है। लेकिन क्या यह सब लोगों के लिए संभव है? लोकमान्य तिलक का कौन-सा वर्ण था? तत्त्वज्ञान में मग्न रहना, गणितशास्त्र में डूबे रहना, यही उनकी आत्मा का धर्म था। शायद उनके लिए उन गुण-धर्मों का विकास करना संभव था। लेकिन उन्होंने देखा कि लाखों लोगों के लिए अपने गुण-धर्म का विकास करना इस सर्वभक्षक परतंत्रता में संभव नहीं है। अतः उन्होंने कहा—आइए, सबके विकास के लिए मार्ग में रुकावट डालने वाली परतंत्रता को सबसे पहले नष्ट कर दें। लोकमान्य 'स्वराज्य' के लिए आगे बढ़े। राष्ट्र में, आज नहीं तो कल, अभी भी सच्चे वर्ण-धर्म की स्थापना हो, इसी के लिए वे निरंतर परिश्रम करते रहे।

महात्मा गांधी ने भी एक बार ऐसा ही कहा था। महात्माजी समाज-सुधारक वृत्ति के थे; परंतु राष्ट्र के विकास में परतंत्रता को एक बहुत बड़ी रुकावट अनुभव करके वे उसे दूर करने के लिए उठे। इतिहासाचार्य राजवाड़े दुख और संताप से कहते थे, 'कदम-कदम पर स्वराज्य की याद आती है।' यदि स्वराज्य प्राप्त हो गया होता तो राजवाड़े कितना ज्ञानप्राप्त विजय कर लेते, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' गीता का यह चरण बार-बार कहा जाता है। इस चरण में धर्म शब्द का अर्थ हिंदू-धर्म, मुसलमान-धर्म नहीं है। यहां धर्म शब्द का अर्थ है—वर्ण। अर्जुन की वृत्ति क्षात्र थी। उत्तर गोग्रहण तक हजारों शत्रुओं के सिर गेंद की तरह उछालने में उसे आनंद मिलता था। जन्म से ही उसके हाड़-मांस में रमी हुई यह क्षात्रवृत्ति अर्जुन मोह के कारण छोड़ना चाहता था। वह संन्यास की बातें करने लगा। कहता था—भिक्षा मांगकर जीवित रह लूंगा। लेकिन क्या उसका यह श्मशान-वैराग्य टिक सकता था? वह जंगल में जाता और वहां हरिण, पक्षी आदि मारकर उनका मांस बड़े शौक से खाता। इससे तो उसकी फजीहत हो जाती। वृत्ति से, वैराग्य से, चिंतन से सच्चा वैराग्य प्राप्त न करने के कारण केवल लहर से ही संन्यासी हो जाने से दंभ पैदा होता।

जो वृत्ति अभी अपनी आत्मा की नहीं हुई है, उसे एकदम अंगीकार कर लेना भयावह ही है। अंतरंगी आसक्ति होते हुए संन्यासी हो जाना समाज का और अपना अधःपतन ही है। जिसके मन में शिक्षा के प्रति आस्था नहीं है, यदि वह स्कूल में पढ़ाता है तो उससे उसको तो संतोष होता ही नहीं है, राष्ट्र की भावी पीढ़ी की भी अपार हानि होती है। भले ही समाज में हमारा वर्ण यदि छोटा समझा जाता है तब भी उस वर्ण के अनुरूप समाज की सेवा करते रहने में ही विकास होता है। पानी की अपेक्षा दूध कीमती है; पर मछली पानी में ही बढ़ती है, दूध में तो वह जीवित भी नहीं रहेगी।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए। इसका यही अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार आचरण करना चाहिए, अपने गुण-धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए और समाज सेवा करनी चाहिए।

संस्कृत में न्यायशास्त्र में धर्म शब्द की व्याख्या एक विशिष्ट अर्थ में की जाती है। जिसके बिना कोई पदार्थ रह

शेष पृष्ठ 51 पर

शिक्षा जीवन-भर चलने वाली प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। यह हमें केवल सूचनाएं नहीं देती, अपितु हमारे जीवन और संपूर्ण सृष्टि में तादात्म्य स्थापित करती है। शिक्षा के बिना जीवन अमावस के अंधियारे की तरह है। शिक्षा ही मानव जीवन के अंधेरे का हरण करती है। शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—विद्या, अर्थात् ज्ञान से बुद्धि की मूर्खता का हरण होता है, वाणी में सत्यता का सिंचन होता है, मान-सम्मान बढ़ता है, पाप दूर होता है। चित्त प्रसन्न होता है, दिशाओं में यश बढ़ता है।

शिक्षा से सृजन स्वस्थ मानस का

डॉ. आनंदप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

शिक्षा और समाज के अटूट संबंधों पर विचार करने के पूर्व हमें इनके पृथक्-पृथक् अर्थ और स्वरूप पर विचार करना चाहिए।

शिक्षा का अंग्रेजी पर्याय 'Education' है। 'Education' लैटिन के 'Educatum' से बना है। 'एडूकेटम' शब्द 'ए'+'डूको' से निर्मित है। 'ए' का अर्थ अंदर से और 'डूको' का अर्थ बाहर निकालना है, अर्थात् शिक्षा का तात्पर्य अंदर की शक्तियों को बाहर निकालने से है। इसका यह तात्पर्य भी लिया जा सकता है कि शिक्षा बाहर से अंदर कुछ आरोपित नहीं करती है, अपितु हमारे अंदर की शक्तियों, क्षमताओं को ही प्रकट करती है। इसीलिए यूनान के महान दार्शनिक, चिंतक सुकरात ने कहा था कि शिक्षा का काम दाई की तरह का है। जैसे दाई बच्चे को मां के गर्भ से बाहर निकालने में मदद करती है, वैसे ही शिक्षा अंदर की शक्तियों को प्रकट करती है। शिक्षा संस्कृत के 'शिक्ष्' धातु से भी बना है, जिसका अर्थ है—सीखना-सिखाना, अर्थात् शिक्षा सीखने-सिखाने की प्रक्रिया है। इस प्रकार शिक्षा एक अविरल प्रक्रिया मानी गई है। इसीलिए कहा जाता है कि सीखने की कोई निश्चित उम्र नहीं है। हर उम्र में व्यक्ति सीखता है। ऋग्वेद में शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा गया—'सा विद्या या विमुक्तये'—विद्या या शिक्षा मोक्ष की ओर ले जाती है। भारतीय दर्शन का लक्ष्य भी मोक्ष की प्राप्ति रहा है। सभी भारतीय मनीषियों ने प्रायः एक स्वर में कहा है—जीवन का चरमलक्ष्य मोक्ष है। प्रश्न हुआ कि मोक्ष का कारण क्या है? उत्तर मिलता है—ज्ञान (शिक्षा) ही 'मोक्ष' का कारण है। उपनिषद् भी कहते हैं—'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव मुक्तिः' 'ज्ञानेन् सदृशं पवित्रं इह न विद्यते।' ये पंक्तियां ज्ञान या शिक्षा के महत्त्व को प्रकट करती हैं। भगवान महावीर ने कहा था—'नाजस्स सारमायारो' अर्थात ज्ञान का सार आचार है। आचार से ही समाज स्वस्थ बनता है। शिक्षा से ही आचार प्रतिष्ठित होता है। शिक्षा और आचार के संबंध को वरतंतु और कौत्स की कथा से समझ सकते हैं। प्राचीन काल में शिक्षा ग्रहण करने के बाद शिष्य को गुरु दक्षिणा देनी पड़ती थी। वरतंतु ने कौत्स से गुरु दक्षिणा में कुछ निश्चित मुद्राएं मांगी। कौत्स राजा रघु के पास गए। राजा रघु ने कुबेर से कहा और कुबेर ने धन की वर्षा की। रघु ने सारी मुद्राएं लेने के लिए कौत्स से कहा। कौत्स ने गिनकर उतनी मुद्राएं ले लीं; जितनी गुरु की मांग थी। इस घटना से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का सार आचार है। भगवान बुद्ध ने कहा था कि शिक्षा से आचरण का विकास होता है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार शिक्षा मानव की सुषुप्त चेतना को विकसित करती है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। अरस्तू का मानना था कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मानस का सृजन ही शिक्षा है। पेस्तालाजी ने कहा था कि शिक्षा से मानव की आंतरिक शक्तियों का विकास होता है। राधाकृष्णन ने तो यहां तक कहा था कि

शिक्षा से बुद्धि को ही शिक्षित नहीं करना चाहिए, अपितु मानव हृदय को सौंदर्य से भर देना चाहिए।

उपुर्यक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा जीवन-भर चलने वाली प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। यह हमें केवल सूचनाएं नहीं देती, अपितु हमारे जीवन और संपूर्ण सृष्टि में तादात्म्य स्थापित करती है। शिक्षा के बिना जीवन अमावस के अंधियारे की तरह है। शिक्षा ही मानव जीवन के अंधेरे का हरण करती है। शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—विद्या, अर्थात् ज्ञान से बुद्धि की मूर्खता का हरण होता है, वाणी में सत्यता का सिंचन होता है, मान-सम्मान बढ़ता है, पाप दूर होता है। चित्त प्रसन्न होता है, दिशाओं में यश बढ़ता है।

जीवन में प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है और सुख के मूल में भी शिक्षा ही है। विद्या से ही विनय प्राप्त होता है और विनय से योग्यता और योग्यता से धन और सुख मिलता है। यही नहीं, विद्या माता की तरह रक्षा करने वाली, पिता की तरह हित साधने वाली और पत्नी की तरह रमणीयता प्रदान करने वाली भी है। और भी, विद्या भाई की तरह सहयोग करने वाली भी होती है। विद्या ही श्रेष्ठ देवता है। राजाओं में भी विद्या की पूजा होती है, न कि धन की। विद्यावान ही सब-कुछ है। विद्याविहीन व्यक्ति पशु के समान है।

शिक्षा के उपर्युक्त महत्त्व को देखते हुए शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए स्वतंत्र भारत में अनेक आयोगों का गठन किया गया। सर्वप्रथम 1948-49 में डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का गठन हुआ। इस आयोग ने पाठ्यक्रमों में ध्यान-योग एवं महापुरुषों के जीवन चरित को जोड़ने का सुझाव दिया। 1952-53 में डॉ. मुदालियर की अध्यक्षता में 'मुदालियर आयोग' का गठन हुआ। इस आयोग ने शिक्षा में नैतिक मूल्यों को जोड़ने का सुझाव दिया। 1964-66 में डॉ. दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में 'कोठारी आयोग' ने शिक्षा में गुणवत्ता लाने के उद्देश्य से शिक्षा में मूल्यपरक शिक्षा को समायोजित करने का सुझाव दिया। 1985-86 में भारत सरकार ने नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की। इसके अन्तर्गत बुनियादी मूल्यों के उत्तरोत्तर क्षरण के संकट को दूर करने के लिए मूल्यपरक शिक्षा पर बल दिया गया। इसकी समीक्षा रिपोर्ट में अध्यात्म और विज्ञान को शिक्षा में आत्मसात करने पर जोर दिया गया। आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में 1990 में 'राममूर्ति आयोग' ने मूल्यपरक शिक्षा के साथ-साथ लोककला एवं संगीत को विकसित करने पर विशेष बल दिया। 1992 में 'यशपाल समिति' ने बस्ते के बोझ पर विचार करते हुए उसे हल्का करने का सुझाव दिया।

इस प्रकार स्वतंत्र भारत में शिक्षा के स्तर को सुधारने की दृष्टि से सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर अनेक प्रयास होते रहे हैं। इन प्रयासों के बावजूद भी हम आज तक शिक्षा को अनिवार्य नहीं कर पाए। अध्ययन के प्रति छात्रों की उदासीनता, अध्यापन के प्रति अध्यापकों की उदासीनता और व्यवस्था जुटाने के प्रति सरकार की उदासीनता शिक्षा को किस ओर ले जाएगी, इसकी कल्पना मात्र से डर लगता है।

शिक्षा और शिक्षार्थी के बीच की कड़ी है शिक्षक। शिक्षक के बारे में कहा जाता है—'जैसे पुजारी अपने देवता का दुभाषिया होता है, वैसे ही शिक्षक अपने समय एवं अपने देश के महान नैतिक विचारों का दुभाषिया होता है।' कबीरदासजी ने भी गुरु की बलिहारी इसलिए गाई थी कि उन्होंने ही गोविन्द तक पहुंचने का रास्ता बताया था। राम के निर्माण में वशिष्ठ, कृष्ण के निर्माण में संदीपन, युधिष्ठिर के निर्माण में गुरु द्रोण, प्लेटो के निर्माण में सुकरात, अरस्तू के निर्माण में प्लेटो, विवेकानंद के निर्माण में स्वामी रामकृष्ण परमहंस आदि उदाहरण इस बात के प्रतीक हैं कि गुरु के मुख से निकला शिक्षा रूपी अमृत ही विद्यार्थी का कल्याण करता है।

यह सचाई है कि सामाजिक परिवर्तन, गतिशीलता और स्तरीकरण के लिए शिक्षा प्रकाशपुंज है। इसी से समाज की कुरीतियां, अंधविश्वास, कदाचार, अनाचार, दुराचार आदि दूर होते हैं। समाज का निरीह प्राणी शिक्षा के द्वारा ही समाज के भाल की बिंदी बन सकता है।

यह सचाई है कि शिक्षा से व्यक्ति का विकास होता है। किंतु इतिहास के पटल पर समाज में घटित ऐसी घटनाएं भी हैं जिन्होंने व्यक्ति के जीवन को रूपांतरित कर दिया और फिर वे महान कहलाए। वाल्मीकि डाकू से महर्षि बने।

इसी प्रकार यदि सिद्धार्थ राज्य का भ्रमण करते हुए वृद्ध, रोगी, मृतक और संन्यासी का दृश्य न देखते तो शायद गौतमबुद्ध के रूप में अमर नहीं होते। गांधी को रेल के प्रथम श्रेणी वाले डिब्बे से उतरने के लिए मजबूर नहीं किया

जाता तो शायद वे भी महात्मा गांधी न बनते। अतः जहां यह कहा जाता है कि शिक्षा से व्यक्ति अपना निर्माण करके समाज का भी विकास करता है, वहीं यह भी कहा जा सकता है कि समाज की अनेक घटनाएं व्यक्ति को शिक्षित करती हैं। अतः शिक्षा और समाज का घनिष्ठ संबंध है।

इस देश में चिंतन और आचरण के अंतराल को दूर कर शिक्षा में परिवर्तन लाया जा सकता है। शिक्षा को एक ऐसा मोड़ देने की आवश्यकता है जिससे आधुनिक भारतीय समाज की वास्तविक मांगों की पूर्ति हो सके। ज्ञान-विज्ञान के उच्चतम आदर्शों को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हुआ जा सके। शिक्षा ही हमारी व्यवस्था का मूलाधार है। अतः शिक्षा के महत्त्व को समझें और समाज को ऐसा नया स्वरूप दें कि इक्कीसवीं सदी के समाज पर सभी गर्व कर सकें। ❖

क्यों भई! व्यक्त को प्यार करना सरल है या अव्यक्त को प्यार करना सरल है? व्यक्त को, जो मेनीफेस्ट है, उसको प्रेम करना सरल है या जो अनमेनीफेस्ट है, अव्यक्त है, उसको प्रेम करना सरल है? जो व्यक्त को प्रेम नहीं कर सकता वह अव्यक्त को प्रेम कैसे कर सकता है! पर याद रखिए, जब-कभी हम व्यक्त को प्रेम करते हैं तब वास्तव में अव्यक्त को ही प्रेम कर रहे होते हैं। हम जब-कभी किसी व्यक्ति को प्रेम कर रहे होते हैं, तो उसके अन्दर भी एक अव्यक्त है, हम उससे ही प्रेम कर रहे होते हैं। अगर आपने सिर्फ व्यक्त को ही प्रेम किया तो सबसे पहले व्यक्त तो यह शरीर ही है और शरीर को ढकके रखने वाला एक वस्त्र ही है। अगर आपने सिर्फ वस्त्र को प्रेम किया तो क्या वह प्रेम धीरे-धीरे करके समाप्त नहीं हो जाएगा? कपड़ों का फैशन बदला तो प्रेम भी बदला। और अगर आपने सिर्फ इस वसन को, जिसको कहते हैं चमड़ी, इसको ही प्रेम किया तो आपका प्रेम कितने दिन रहेगा? इस चमड़ी को सजाते रहे, इसे जवान करने की कोशिश करते रहे तो कितने दिन का प्रेम रहेगा? झुर्रियां पड़ेंगी। शरीर जर्जर होगा। इसलिए हमारे यहां महत्त्व दिया है आत्मा को। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.5)। वह जो आत्मा है वही परम प्रेमास्पद है। जहां-कहीं भी हमारी आत्मीयता जुड़ जाती है, वहां पर हमको प्रेम होने लगता है और ज्योंही वहां से आत्मीयता हटी तो प्रियता भी समाप्त हो जाती है। इसलिए वास्तव में तो हम अव्यक्त को ही प्रेम कर रहे होते हैं। अव्यक्त को प्रेम करना बहुत कठिन है। व्यक्त-व्यक्त को प्रेम करते-करते अव्यक्त को प्रेम करने की कुशलता, कला आ जाती है। इसलिए गृहस्थाश्रम प्रेम करना सीखने की साधना-स्थली है। गृहस्थाश्रम किसलिए? प्रेम करने, सीखने की साधना के लिए ही गृहस्थाश्रम। इसलिए जब प्रेम का प्रसंग आ जाता है तब मैं कह देता हूं—तुलना की दृष्टि से जो पारिवारिक प्रेम है वह एक मटकी में भरे हुए पानी के समान है। और जो समाज को प्रेम करना शुरू कर देता है उसके प्रेम को समझें तालाब के पानी के समान और जो राष्ट्र को प्रेम करना शुरू कर देता है, उसका प्रेम भाखड़ा डेम में जो पानी है, उसके समान है। जो मानव मात्र को प्रेम करना शुरू कर देता है, उसका प्रेम मानो समुद्र के समान है। और जो ईश्वर को प्रेम करता है उसकी तो कोई उपमा ही नहीं है। क्योंकि वह अगाध है, अनंत है। प्रेम करना कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है। उपासना=उप+आसन यानी पास में जाना। तो पास में जाओगे तो कैसे जाओगे? एक आत्मीयता को लेकर, एक प्रेम को लेकर, एक श्रद्धा को लेकर जाओगे। तो यह एक अत्यंत उत्कृष्ट स्तर हो गया।

—संवित् सोमगिरि

यह जानते हुए कि हिंसा-प्रधान समाज कभी भी प्रगति के शिखर को छू नहीं सकता, मनुष्य अपने इन कुकृत्यों से मुक्त नहीं हो रहा है। भावनात्मक विकास के अभाव में वर्तमान शिक्षा पद्धति से पढ़े-लिखे नौजवान मात्र एक नंबर से अनुत्तीर्ण हो जाने पर आत्महत्याएं कर रहे हैं। पश्चिमी देशों में तो आत्महत्या के आंकड़े चौंकाने वाले हैं। बताते हैं कि वहां प्रति पांच मिनट में एक आत्महत्या होती है। वास्तव में आत्महत्या स्वयं में कोई समाधान नहीं है, अपितु समस्या से पलायन है। भारतीय संस्कृति में जहां कन्या को कुल का शृंगार समझा जाता था, आज उसी शिशु कन्या को गर्भ में ही मृत्यु की गोद में सुला रहे हैं। भ्रूणहत्या की बढ़ती संख्या समूची मानव जाति के सर्वविनाश के लिए धीमे जहर का काम कर रही है।

स्वस्थ समाज-रचना अणुव्रत से

समणी शशिप्रज्ञा

मानव असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की दिशा में सदैव गतिशील होता रहा है। मानव के इस अभियान में धर्म की भूमिका भी सदैव निर्विवाद रही है। मगर आज धर्म मात्र एक प्रदर्शन बनकर रह गया है। समाज में अनैतिकता का 'ग्राफ' प्रतिवर्ष ऊपर की ओर उठ रहा है। अतः आज अपेक्षा है कि धर्म और नैतिक जीवन के मध्य समन्वय हो। वर्तमान युग की सबसे बड़ी विडंबना है—धर्म का नैतिकता-विहीन दोहरा चरित्र। प्रश्न है कि नैतिकता और कथित धर्म के बीच की दूरी को कैसे पाटा जाए? कथनी एवं करनी की विषमता कैसे दूर हो? नैतिक आस्थाशून्य तथाकथित धार्मिक आस्था ने ही विश्व के सामने अनेक समस्याएं उत्पन्न की हैं। कहने को हर धर्म इंसान को इंसानियत के शिखर पर पहुंचाने और मानव को मानवोचित व्यवहार से परिचित कराने के लिए कुछ-न-कुछ नैतिक नियमों का सहारा लेता है। फिर भी इतनी समस्याएं क्यों हैं?

नैतिक धर्म का विधान

उपनिषद् की उक्ति है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।' अर्थात् मनुष्य के सारे शुभाशुभ कर्म मानस-प्रेरित हैं। अपने मनोभावों के आधार पर वही बंधन और मोक्ष को उपलब्ध होता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—1. अनैतिक, 2. नैतिक और, 3. अतिनैतिक। जैन विचारणा का ईर्यापथिक कर्म (भावक्रियापूर्ण कर्म) अतिनैतिक कर्म है। पुण्य (शुभ) कर्म नैतिक कर्म है और पाप कर्म अनैतिक कर्म है। गीता का अकर्म (निष्काम कर्म) अतिनैतिक, शुभ कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक कर्म है। बौद्ध विचारणा में अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म क्रमशः अकुशल, कुशल, अव्याकृत कर्म या अकृष्ण, अशुक्ल कर्म कहा गया है। इस प्रकार हर धर्म-दर्शन ने अनैतिक कर्म का निषेध और नैतिक कर्म करने का विधान किया है। बौद्ध परंपरा में आर्य अष्टांगिक मार्ग के माध्यम से मानव पर नैतिक अंकुश लगाया गया है। योग शास्त्रों ने अष्टांगिक मार्ग के रूप में यम-नियमादि के द्वारा नैतिक विकास की बात कही। वहीं जैन परंपरा में अणुव्रत के माध्यम से मानव धर्म को व्रत या संकल्प से नियंत्रण में रखा गया।

अहिंसा की चेतना का जागरण

आचार्य तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत के ग्यारह नियम स्वस्थ समाज-रचना की न्यूनतम आचार-संहिता है। वहीं बौद्ध दर्शन में बुद्ध ने आर्य अष्टांगिक मार्ग के माध्यम से स्वस्थ समाज की रचना की परिकल्पना की है। बुद्ध ने हिंसात्मक प्रवृत्तियों को सम्यक् संकल्प के अंतर्गत

अकुशल कर्म कहा है एवं परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए घातक बतलाया है। स्वस्थ जीवन-शैली हेतु अहिंसात्मक जीवन जीने की कला अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प प्रदान करते हैं। अणुव्रत का पहला संकल्प है—'मैं किसी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा। आत्महत्या नहीं करूंगा, भ्रूणहत्या नहीं करूंगा।' तीसरा संकल्प है—'मैं हिंसात्मक तोड़-फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।' राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक यदि इस प्रकार का संकल्प स्वीकार करे तो आतंकवाद, अपहरण, आगजनी, हत्या, आत्मघाती हमले जैसी अनेक समस्याओं को नियंत्रित किया जा सकता है।

विश्व पटल पर भी हम दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्टतः यही परिलक्षित होता है कि चारों तरफ हिंसा का तांडव हो रहा है। स्वार्थ की अंधी दौड़ में करुणा का स्रोत इस कदर सूखता जा रहा है कि भाई भाई की हत्या करने में, पुत्र मां की हत्या करने में, पति पत्नी की हत्या करने में एवं मित्र अपने मित्र की हत्या करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। जीभ के तुच्छ स्वाद के लिए मनुष्य निरीह मूक-प्राणियों को क्रूरतापूर्वक मारकर जैव-मंडल में असंतुलन की समस्या को बढ़ा रहा है। यह जानते हुए कि हिंसा-प्रधान समाज कभी भी प्रगति के शिखर को छू नहीं सकता, मनुष्य अपने इन कुकृत्यों से मुक्त नहीं हो रहा है। भावनात्मक विकास के अभाव में वर्तमान शिक्षा पद्धति से पढ़े-लिखे नौजवान मात्र एक नंबर से अनुत्तीर्ण हो जाने पर आत्महत्याएं कर रहे हैं। पश्चिमी देशों में तो आत्महत्या के आंकड़े चौंकाने वाले हैं। बताते हैं कि वहां प्रति पांच मिनट में एक आत्महत्या होती है। वास्तव में आत्महत्या स्वयं में कोई समाधान नहीं है, अपितु समस्या से पलायन है। भारतीय संस्कृति में जहां कन्या को कुल का श्रृंगार समझा जाता था, आज उसी शिशु कन्या को गर्भ में ही मृत्यु की गोद में सुला रहे हैं। भ्रूणहत्या की बढ़ती संख्या समूची मानव जाति के सर्वविनाश के लिए धीमे जहर का काम कर रही है।

अंधी प्रतिस्पर्द्धा बनाम विनाश

आज का युग प्रतिस्पर्द्धा का युग है। हर क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा है। चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो या व्यापार का। बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में भर्ती कराने की होड़ से लेकर गृह-सामग्री, खाद्य-सामग्री, बदलते फैशन के अंदाज से पहनावे में प्रतिस्पर्द्धा, घरों को अत्याधुनिक सुसज्जित करने एवं प्रथम कोटि का धनपति बनने की होड़ मची है। इसी तरह अंधी प्रतिस्पर्द्धा और सौंदर्य का ताज पाने की होड़ लगी है, तो दूसरी ओर सत्तासीन राजनेताओं में अपने पक्ष को शक्तिशाली करने की अनैतिक होड़ है। आणविक शस्त्रास्त्रों के निर्माण में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अधिक घातक बम-निर्माण की होड़ में भी तत्पर है। निरंतर बढ़ते हुए आणविक अस्त्रों के उत्पादन ने संपूर्ण मानव जाति की सुख-शांति लगभग समाप्त कर दी है, चारों तरफ भय का साम्राज्य व्याप्त हो रहा है। यह स्थिति बन रही है कि सुबह घर से निकला व्यक्ति शाम को सुरक्षित घर में पहुंच जाए तो गनीमत है।

ऐसी दुरवस्था में अणुव्रत के माध्यम से नैतिक मूल्यों के उत्थान एवं विश्व शांति की स्थापना के लिए आक्रामक नीतियों का प्रतिरोध किया जाना यह उम्मीद जगाता है कि शांति के प्रयत्न अभी समाप्त नहीं हुए हैं। निःशस्त्रीकरण के लिए अणुव्रत आंदोलन सतत प्रयत्नशील है।

भगवान बुद्ध ने भी निःशस्त्रीकरण का संदेश देते हुए आर्य अष्टांगिक मार्ग में सम्यक् आजीविका के अंतर्गत शस्त्र-वाणिज्य का निषेध किया है। वहीं जैन धर्म में भगवान महावीर ने भी शस्त्र-निर्माण का निषेध कर यही संदेश दिया है—'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए'—षड्जीवनिकाय को आत्मतुल्य समझो। हिंदू एवं वैदिक परंपरा में भी 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का उद्घोष सर्वत्र सुनाई देता है। आचारांग सूत्र में भी अहिंसा का स्वर मुखरित हुआ है कि 'णत्थि असत्थं परेण परं' अहिंसा से बढ़कर दूसरा कोई शक्तिशाली शस्त्र नहीं है।

ईमानदारी और सम्यक् आजीविका

निःसंदेह आज का बाजार मानवीयता और इंसानियत के उसूलों से शून्य होता जा रहा है। बाजार की शुद्धि-अशुद्धि के आधार पर राष्ट्र के चरित्र का मूल्यांकन किया जा सकता है। भ्रष्टाचार एवं मिलावट इस कदर फैल चुके हैं कि अपने ही राष्ट्र के नागरिकों एवं भावी पीढ़ी को रुग्ण बनाते हुए ऐसे तत्त्वों को लेशमात्र भी संकोच नहीं हो रहा है। धन-संग्रह की लालसा में व्यक्ति अंधा होता जा रहा है और अकरणीय कार्य कर बैठता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि 'चार कषायों में लोभ कषाय को जीतना सबसे दुष्कर है।' आज के बाजार को देखकर यह अनुभव हो रहा है कि विलासिता ही आम आवश्यकता बनती जा रही है। भौतिक आपाधापी, महंगाई एवं शिक्षित बेरोजगारों के बढ़

रहे इस दौर में नैतिक मूल्यों का क्षरण हर क्षेत्र में प्रतिक्षण हो रहा है। इस विषम स्थिति से उबरने के लिए आचार्य तुलसी ने 'व्यापारी-अणुव्रत' के अंतर्गत व्यवसाय में छलनापूर्वक व्यवहार नहीं करने का निर्देश व्यापारियों के लिए दिया है। अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि पहुंचाने को अनुचित बतलाया है। अणुव्रत के इस छोटे-से नियम और भगवान बुद्ध के सम्यक् आजीविका के सूत्र को यदि हम जीवन-व्यवहार में अपनाएं तथा उत्तराध्ययन सूत्र के—'अस्सिं लोए परत्थ य'—अर्थात् व्यापार की प्रामाणिकता न केवल इस लोक एवं परलोक के लिए कल्याणकारी साबित होगी, अपितु आत्महित एवं परहित में सहायक भी बनेगी—तो स्वस्थ समाज-संरचना का संकल्प सार्थक हो सकेगा।

अपराध-चेतना का कारण व्यसन

आज पश्चिम की संस्कृति के प्रभाव में आकर देश के नौजवान व्यसन को फैशन एवं प्रतिष्ठा का अंग बना रहे हैं। दूसरी ओर अणुव्रत का उद्घोष है—व्यसनमुक्त हो सारा देश। भगवान महावीर के शब्दों में व्यसनी परिणामदर्शी न होकर आपातभद्र होता है। वह यह भूल जाता है कि 'मादयति इति मादकः'—अर्थात् मादक पदार्थ व्यक्ति को उन्मत्त बनाकर उसकी चेतना को मूर्च्छित करता है। विगत कई दशकों से पूरी दुनिया में नशे के जितने रूप सामने आए हैं उनके बारे में जानकर लगता है कि मानव जाति के विनाश हेतु रचा गया यह कोई भयावह षड्यंत्र है। सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि नशे का प्रवेश विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों में हो गया है। हिंदुस्तान ही नहीं—अमेरिका, यूरोप आदि विश्व के सभी देश चिंतित हैं कि नशा बहुत बढ़ रहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि 'जिस समाज में नशा बढ़ता है, उसमें कर्तव्यबोध और दायित्वबोध समाप्त होता है।' जिस समाज का युवा वर्ग नशे में सुप्त है, वह समाज प्रगति की दृष्टि से भी सुप्त होता है। भगवान बुद्ध ने पंचशील के अंतर्गत सुरा-मैरेय का वर्जन एवं सम्यक् अजीव के अंतर्गत मांस-मद्य वाणिज्य का निषेध कर स्पष्ट बतलाया कि नशे से होने वाली मानसिक एवं भावनात्मक विकृतियां मनुष्य में अपराध की चेतना को जगाती हैं। हिंसा, आतंक, बलात्कार, हत्या आदि क्रूर अपराधों के पीछे मनुष्य की मानसिक विकृति का ही सबसे बड़ा हाथ है। मादक द्रव्य के सेवन से शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं चारित्रिक क्षति होती है। इसीलिए इनके वर्जन पर जोर दिया गया है।

अणुव्रत बाह्य प्रतिबंध की अपेक्षा आत्म-संयम के द्वारा हिंसा, भ्रष्टाचार, वैश्विक अशांति एवं मादक द्रव्यों के सेवन से पनपनेवाली अपराधी मनोवृत्ति आदि की समस्याओं से निजात पाने का पक्षधर है। अणुव्रत का मानना है कि इसी से अहिंसक स्वस्थ समाज-संरचना की परिकल्पना को साकार रूप दिया जा सकता है। अणुव्रत एवं आर्य अष्टांगिक मार्ग—इस सचाई को सामने रखकर चल रहे हैं कि व्यक्ति-सुधार के माध्यम से समाज-सुधार संभव है। समाज-सुधार का कार्य व्यक्ति-सुधार से शुरू हो—यह युगीन अपेक्षा है। ❖

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः पृष्ठ 45 का शेष

ही नहीं सकता, वही धर्म है। उदाहरणार्थ, जलाना अग्नि का धर्म है। बिना उष्णता के अग्नि नहीं रह सकती। बिना शीतलता के पानी नहीं रह सकता। बिना प्रकाश के सूर्य का कोई मूल्य नहीं। यदि हम सूर्य से कहें कि 'तपो मत', तो वह कहेगा, 'मेरे न तपने का अर्थ होगा मेरी मृत्यु।' यदि हम वायु से कहें कि 'तुम बहो मत' तो वह कहेगी, 'यदि मैं न बहूं तो क्या करूं? बहते रहना ही मेरा जीवन है।' यह है धर्म शब्द का अर्थ।

हम जिसके बिना जीवित नहीं रह सकते और जिसके लिए जीने और मरने की भावना पैदा होती है वही हमारा वर्ण-धर्म है। किसान से कहिए कि—'जमीन मत बो, गाय-ढोर मत पाल, मोठ मत चला।' तो वह उकता जाएगा। शिक्षक को मई महीने की छुट्टी से घबराहट होती है। शिक्षा प्रदान करना ही उसका परमानंद होता है। वैश्य से कहिए कि—'दुकान पर मत बैठ, भाव की पूछताछ मत कर।' तो उसे जीवन में कोई मिठास अनुभव न होगी। अपना प्रिय सेवा-कार्य ही मानो हमारा प्राण होता है। उसके लिए ही जीने और उसी के लिए ही मरने की प्रेरणा होती है।

इस प्रकार का हमारा जो सेवा-धर्म हो उसके लिए ही हमें सब-कुछ करना चाहिए। उस वर्ण का, उस रंग का हमें रात-दिन प्रयत्न करके विकास करना चाहिए और मरने पर भगवान के पास जाकर कहना चाहिए, 'भगवान! आपने ही यह पूंजी मुझे दी थी। मैंने उसे इतना बढ़ाया है, उस पूंजी को बढ़ाकर मैंने समाज को सुखी किया। मैंने समाज-पुरुष की सेवा की', तो भगवान को संतोष होगा और वह गले लगा लेगा। ❖

दफ्तर पहुंचते ही शर्माजी ने 'पार्क' वाली फाइल निकाली। फाइल पर मंजूरी भी थी और ठेकेदार की चिट्ठी भी। फाइल लेकर वे सीधे बस्ती के पास वाले मैदान में पहुंचे। वहीं से ठेकेदार को बुलावा भेजा। पहले तो साजिदा, मुन्नी, स्वीटी और चमेली को विश्वास ही नहीं हुआ। बस्ती वालों को लगा कि सरकार उनके साथ कोई और चाल चल रही है। मगर बड़े बाबू का जोश और इरादा देखा तो सबको लगा कि बात पक्की है। फिर क्या था? बस्ती वाले भी शर्माजी के साथ ही जुट गए।

कर्ज

❑ *अशोक लाल*

विनोद शर्मा पढ़े-लिखे थे और पैंतीस-चालीस साल पहले दिल्ली आ गए थे। नगरपालिका के दफ्तर में बड़ी कोशिश के बाद क्लर्क की नौकरी मिल गई थी। वे एक छोटे-से घर में रहने लगे और जल्द ही शादी भी हो गई। अपनी बीवी से उन्हें बहुत प्रेम था। दो वर्ष बाद उनके घर बेटा पैदा हुआ। शर्माजी खुश हुए। उन्हें ऐसा भी लगा जैसे बीवी के प्रेम का कोई और भी अब हिस्सेदार हो गया है।

बदकिस्मती से दो वर्ष बाद एक दुर्घटना में शर्माजी की बीवी चल बसी। उस दिन से शर्माजी ने जैसे पूरी दुनिया से नाता तोड़ लिया। जैसे-तैसे पेट काटकर बेटे उमेश को होस्टल में रखकर पढ़ाया-लिखाया। पढ़-लिख लेने के बाद उमेश को दिल्ली में ही प्राइवेट कंपनी में नौकरी भी मिल गई। फिर उमेश ने अपनी ही पसंद की लड़की से शादी कर ली। उमेश और उसकी पत्नी अलग घर लेकर रहना चाहते थे। मगर महंगाई के कारण मन मारकर उसी छोटे-से मकान में रहना पड़ा। बाप-बेटा एक ही छत के नीचे रहते थे। मगर अपनी-अपनी दुनिया में मस्त। एक-दूसरे से जैसे कोई लेना-देना ही नहीं था।

कलम घिसते-घिसते शर्माजी नगरपालिका के दफ्तर में हेड क्लर्क बन गए। सब उन्हें 'बड़े बाबू, बड़े बाबू' कहते थे। बड़े बाबू को न तो किसी में दिलचस्पी थी, न ही कोई शौक था। पान, सिगरेट, दारू-वारू—कुछ भी नहीं। चुपचाप घर से दफ्तर और दफ्तर से घर। सब मिलाकर बड़े बाबू अपनी ही दुनिया में बंद हो गए।

चौबीसों घंटे उनके मन में एक ही बात घूमती रहती—'मैं कितना बेचारा आदमी हूं। बीवी मर गई। और अब मेरा बेटा और मेरी बहू भी मुझे नहीं पूछते।' इधर कुछ सालों से उनकी तबीयत भी खराब रहने लगी थी। खाने-पीने का मन भी नहीं करता। दिन-रात शरीर और मन बेचैन रहता।

बड़े बाबू के दफ्तर के इलाके में झुग्गी-झोंपड़ियों की एक बस्ती थी। दो साल पहले चुनाव के समय वहां के मकान पक्के करा दिए गए थे। बस्ती के पास ही एक मैदान भी था। मैदान की ऊबड़-खाबड़ जमीन बेकार पड़ी थी। योजना के हिसाब से उस जमीन पर अब तक पार्क बन जाना चाहिए था। यही नहीं, वहीं पर बस्ती वालों के लिए पक्के पाखाने भी बनने थे। वह

सब हुआ नहीं। वायदे, बस वायदे ही रहे। मैदान में बहुत गड्ढे थे। बरसात में उनमें पानी भर जाता। तरह-तरह की बीमारियां फैलतीं। कोई और सुविधा थी नहीं। इसलिए सब को वहीं तन के काम पूरे करने पड़ते। सारा माहौल गंदगी और बदबू से भरा रहता।

बस्ती में बहुत-सारी औरतें थीं। उनमें से चार सहेलियां—साजिदा, स्वीटी, चमेली और मुन्नी भी वहीं रहती थीं। मर्द लोग तो सुबह-सवेरे काम पर निकल जाते थे। सारी परेशानी औरतों और बच्चों को रहती। जब भी फुरसत मिलती, चारों सहेलियां नगरपालिका के दफ्तर में चक्कर लगातीं। वे पार्क और टट्टियां बनवाने की योजना की याद दिलातीं। मगर उनकी कोई सुनवाई न होनी थी, न हुई।

उसी मैदान के आस-पास अचानक बड़ी-बड़ी गाड़ियां आने-जाने लगीं। औरतों का माथा ठनका। बड़ी गाड़ी के एक ड्राइवर ने औरतों को एक खबर सुनाई कि साहब लोग जो गिटिर-पिटिर करते हैं, उसी से पता चला है कि मैदान में कोई आलीशान होटल बनाने की तैयारी है। खबर सुनते ही चारों सहेलियां दफ्तर जा पहुंचीं। हमेशा की तरह उन्हें चुपचाप खड़ा रहने को कह दिया गया। बाबू लोग उन्हें अनदेखा करके गपबाजी करते रहे।

पर आज उन चारों के लिए धीरज रख पाना मुश्किल हो रहा था। साजिदा बोली, 'कब बनेगा 'पारक'? चुनाव के बाद तो नेताजी की शकल ही नहीं दिखाई दी।' मुन्नी बोली, 'नेताजी ने योजना पूरी करने का वादा किया था। कहा था कि मैदान पर पार्क बनेगा, बेंच लगेगी, झूले लगेंगे, टट्टियां बनेंगी.... मगर हुआ तो कुछ भी नहीं।' सब क्लर्क हंसने लगे। इस पर सहेलियों का पारा और चढ़ गया।

स्वीटी बोली—'साफ-साफ बताओ। वहां 'पार्क' और टट्टियां ही बनेंगे न?'.... चमेली बोली, 'हमने सुना है वहां होटल बनेगा।.... होटल बनेगा तो मार हम पर पड़ेगी।.... या तो हमें खदेड़ दिया जाएगा या फिर वहां का सारा कूड़ा-कचरा भी हमारे घरों में पटक दिया जाएगा।'

क्लर्कों में चुप्पी छा गई। उन्हें मालूम था कि एक अमीर सेठ ने वह जमीन होटल बनवाने को हथिया ली है। पार्क वाली फाइल दबा दी है। सब फाइलों की तरह पार्क वाली फाइल भी बड़े बाबू शर्माजी की अलमारी में धूल खा रही है। उसी फाइल में पार्क और टट्टियों की मंजूरी दबी पड़ी है।

बड़े बाबू ने औरतों की चीख-पुकार सुन ली थी। मगर हमेशा की तरह अनसुना कर दिया। सोचा, 'जब जो आर्डर आएगा, कर देंगे। मुझे क्या चिंता?'

चारों सहेलियों को कोई जवाब नहीं मिला। मुन्नी जोर से चीखी, 'अरे, कितना बेसरम बनाओगे हमें? कब तक बैठेंगे हम अपना बदन उघाड़कर दुनिया के सामने? जाओ बुलाओ अपने अफसरजी को।' वे चारों वहीं धरना देकर बैठ गईं। अफसर को झख मारकर आना ही पड़ा। अफसर ने चालाकी से झूठमूठ के दिलासे दिए। साथ-ही-साथ बस्ती की औरतों को हंगामा खड़ा करने पर डराया-धमकाया भी। फिर हमेशा की तरह चारों सहेलियों को चलता कर दिया।

इधर वे दफ्तर से निकलीं, उधर अफसर ने भरे दफ्तर में सबके सामने ही बड़े बाबू को लताड़ा। ऊंची आवाज में बड़े बाबू से बोला, 'होटल बनने की बात दबाकर रखनी थी। पार्क वाली फाइल आपके पास ही रखी है। हो-न-हो, इस बात की खबर आप से ही फैली है। अगर आप से काम नहीं होता, तो फाइल किसी और को दे दो।' हमेशा की तरह शर्माजी ने डांट चुपचाप सह ली। सोचा, 'मेरे रिटायर होने में बस छह महीने ही तो बचे हैं। जैसे ये दिन गुजरे, बाकी भी गुजर जाएंगे।'

शर्माजी को चुपचाप पाकर अफसर और भड़क गया। बोला, 'अब कोई हंगामा न हो। हुआ तो जीना हराम कर दूंगा। पेंशन-वेंशन सब बंद करा दूंगा। समझे?' यह कहकर अफसर भनकता हुआ चल दिया। बड़े बाबू चुपचाप अपने कमरे में चले गए। बाकी क्लर्क कानाफूसी करने लगे—होटल तो वहां बनकर ही रहेगा। ....अफसर और नेताओं की बात नहीं मानेंगे तो काम कैसे चलेगा?

अगले दिन शर्माजी डिस्पेंसरी पहुंचे। अपने पेट-दर्द और भूख न लगने की दवा वहीं से लेते थे। वहां बड़े अस्पताल के डाक्टर भी आए हुए थे। वे शर्माजी को पूरे 'चेकअप' के लिए बड़े अस्पताल भी ले गए। पूरा दिन जांच-पड़ताल में ही बीत गया। अगले दिन शर्माजी अपनी दवा लेने के लिए फिर डिस्पेंसरी पहुंचे। दवा लेते समय डाक्टर और कंपाउंडर की बात सुनाई पड़ी। दोनों दबी जबान में बात कर रहे थे, 'शर्माजी को 'कैंसर' है। पेट का कैंसर।.... बड़े डाक्टरों ने ज्यादा-से-ज्यादा छह महीने का समय दिया है।.... अब उम्र भी तो ऐसी हो गई है कि कोई इलाज नहीं किया जा सकता।....'

शर्माजी के पैरों तले की जमीन खिसक गई। सोच रहे थे, 'कोई भी तो नहीं है मेरा दुख बांटने वाला। मेरा अपना बेटा उमेश भी नहीं। वह तो अपनी दुनिया में ही मस्त है। उसे बता भी दिया तो क्या करेगा? बहुत दुखी मन और भारी कदमों से वे दफ्तर चल दिए। रास्ते में बैंक पड़ता था। वहां से उन्होंने बहुत-सारे पैसे निकाले। सोचा, अब बाकी दिन मौज-आनंद से जीऊंगा।

दफ्तर पहुंचने के बाद वे चुपचाप अपने कमरे में चले गए। आफिस में रोजाना वाला शोर था। सब अपनी गपबाजी में मशगूल थे। हंसी के ठहाके लगा रहे थे। शर्माजी को लगा, जैसे वे सालों से हंसे भी नहीं हैं। शर्माजी सन्न से हुए दीवार को ताकते रहे। सोच रहे थे, 'अगर मैं चीख-चीखकर भी किसी से कुछ कहना चाहूं, तो सुनेगा कौन?'

शाम हो गई। दफ्तर बंद हो गया। अचानक शर्माजी ने देखा कि उनके सामने खरे बाबू खड़े थे। खरे बाबू साफ-सफाई के महकमे में 'सेनेटरी-इंस्पेक्टर' थे। मस्त-मौला आदमी थे खरे बाबू। शादी की नहीं थी। खरे बाबू दिन-भर दफ्तर से बाहर रहे थे। शाम को दफ्तर में हाथ-मुंह वगैरह धोने के लिए आए थे। बड़े बाबू को इतनी देर तक दफ्तर में पाकर उन्हें काफी हैरत हुई।

खरे बाबू ने कहा, 'नमस्कार शर्माजी। घर नहीं जा रहे क्या?'

शर्माजी ने लंबी सांस ली। बोले, 'घर? कैसा घर?' फिर बोले, 'आप कहां जा रहे हैं?'

खरे बाबू ने कहा, 'मैं तो बस, आवारागर्दी के लिए जा रहा हूं।'

शर्माजी ने कहा, 'क्या मैं चल सकता हूं आपके साथ?'

खरे बाबू ने कहा, 'आप तो जानते हैं कि मैं किस तरह का आदमी हूं। अगर आप बच्चे होते, तो आपकी मां मेरे साथ आपको खेलने तक नहीं देतीं।'

बड़े बाबू खरे बाबू के साथ हो लिए। पैसे तो बड़े बाबू के पास थे ही। उन्होंने मौज-मस्ती करने की बहुत कोशिश की। उनके मन से बदनामी का डर भी निकल चुका था, लेकिन पैसे से खरीदे जा सकने वाले सब मजे उन्हें फीके लगे। उन्हें कोई भी शौक रास नहीं आया। उनका दिल उदास ही रहा। अगले दिन से शर्माजी ने दफ्तर जाना भी छोड़ दिया।

उनके दफ्तर में एक लड़की अभी हाल में ही क्लर्क बनकर आई थी। नाम था लक्ष्मी। लक्ष्मी अपनी जिंदगी में सबके लिए बहुत-कुछ करना चाहती थी। लेकिन नगरपालिका में दूसरे क्लर्कों का रवैया देखकर उसका मन खट्टा हो गया था। न कोई काम करना चाहता था, न सेवा का भाव था। बाबूशाही में लक्ष्मी का दम घुटने लगा था।

वह अपनी मनपसंद का काम पाने की तलाश में थी। उसकी मेहनत आखिर सफल हो गई। उसे खिलौने बनाने वाली एक कंपनी में नौकरी मिल गई थी। उसने नगरपालिका के दफ्तर से इस्तीफा दे दिया था। इस्तीफे पर बड़े बाबू के दस्तखत जरूरी थे। शर्माजी दफ्तर जा नहीं रहे थे। इसीलिए लक्ष्मी दस्तखत लेने शर्माजी के घर आई थी।

शर्माजी के घर कोई आता-जाता नहीं था। लक्ष्मी को अपने सामने पाकर उन्हें बड़ी हैरत हुई। वजह पूछी और बिना आनाकानी किए बड़े बाबू ने इस्तीफे पर दस्तखत कर दिए।

बड़े बाबू ने देखा कि लक्ष्मी की आंखों में

अजीब-सी खुशी थी। लक्ष्मी की हर बात में उमंग थी, आशा थी। उसके व्यवहार से अपनापन झलकता था।

बातों ही बातों में शर्माजी ने लक्ष्मी को बता दिया कि उन्हें 'कैंसर' है। लक्ष्मी ने उन्हें आराम करने की सलाह दी। शर्माजी ने कहा कि उन्हें आराम की नहीं, कुछ काम करने की जरूरत है। कुछ ऐसा करने की, जिससे लगे कि उनमें अब भी जीवन है। लक्ष्मी ने उन्हें मन की शांति के लिए 'ध्यान' की सलाह दी। शर्माजी ने कहा कि उन्होंने बहुत किया है, मगर उसमें भी कोई शांति नहीं मिली।

अचानक शर्माजी ने लक्ष्मी से पूछा, 'तुम इतनी खुश कैसे रहती हो लक्ष्मी? चार दिन ही सही, लेकिन मैं खुश रहना चाहता हूं।'

लक्ष्मी ने कहा, 'आज मैं खुश हूं, क्योंकि मैं अपने नए काम के बारे में सोच रही हूं। हमारी फैक्टरी में बने खिलौनों से बच्चे खेलेंगे तो कितने खुश होंगे। वे खुश होंगे तो मैं भी खुश होऊंगी। कितनी बड़ी बात है! मुझे भी लगेगा कि मैं उनके साथ खेल रही हूं—जैसे पार्क में खेला करती थी, अपनी सहेलियों के साथ।'

यह सुनते ही शर्माजी के मन में एक सपना-सा कौंधा। सोचा कि पार्क और शौचालय बन जाएंगे तो बस्ती वालों को कितनी सहूलियत हो जाएगी। साजिदा, मुन्नी, स्वीटी, चमेली कितनी खुश होंगी। बीमारियां कम होंगी। बच्चों को खेलने-कूदने की जगह मिल जाएगी। शर्माजी की आंखों में चमक आ गई। उनके मन की घुटन और बदन की थकान जैसे एकदम दूर हो गई। वे लक्ष्मी के साथ ही दफ्तर को निकल पड़े।

रास्ते में उन्होंने लक्ष्मी के लिए एक स्वेटर खरीदा। लक्ष्मी को यह अटपटा लगा। उसने स्वेटर लेने से मना किया। इस पर शर्माजी ने कहा, 'तुमने मुझे जीने की राह दिखाई है। मुझे लगता है कि मैं मरा हुआ था, अब तक। तुम्हारी वजह से जिंदा हो उठा हूं। तुम तो मां जैसी हो। मगर हो तो मेरी बेटी की ही उम्र की।' लक्ष्मी गद्गद हो गई। उसने स्वेटर ले लिया।

दफ्तर पहुंचते ही शर्माजी ने 'पार्क' वाली फाइल निकाली। फाइल पर मंजूरी भी थी और ठेकेदार की चिट्ठी भी। फाइल लेकर वे सीधे बस्ती के पास वाले मैदान में पहुंचे। वहीं से ठेकेदार को बुलावा भेजा। पहले तो साजिदा, मुन्नी, स्वीटी और चमेली को विश्वास ही नहीं हुआ। बस्ती वालों को लगा कि सरकार उनके साथ कोई और चाल चल रही है। मगर बड़े बाबू का जोश और इरादा देखा तो सबको लगा कि बात पक्की है। फिर क्या था? बस्ती वाले भी शर्माजी के साथ ही जुट गए।

शर्माजी के लिए अब कदम-कदम पर मुश्किलें खड़ी होना शुरू हो गईं। शर्माजी ने काम शुरू करा दिया। बिजली, पानी और नगरपालिका के दफ्तर से बागवानी की अनुमति लेनी थी। ठेकेदार के लिए भी पैसे निकलवाने थे। इन सब कामों में बाबू की लगन काम आई। घंटों-घंटों दीन-भाव से दफ्तरों के चक्कर लगाते। हाथ जोड़कर ऐसे मदद मांगते जैसे उनका अपना काम हो। सभी लोग धीरे-धीरे पसीजने लगे। शर्माजी अपना पूरा समय मैदान में ही गुजारते। उनकी बीमारी तो दिन-ब-दिन खाए जा ही रही थी। एक-दो दफा वे बेहोश होकर गिर भी पड़े। लेकिन वे जुटे रहे।

अमीर सेठ को लगा कि होटल बनाने की उसकी योजना चौपट हो गई। वह गुस्से से आग-बबूला हो गया। उसने बड़े बाबू और बस्ती वालों को डराने-धमकाने और मारने को गुंडे भेजे। एक गुंडे ने भरी बस्ती के सामने शर्माजी का गिरेबान पकड़ा। दादागीरी के अंदाज में बोला, 'अरे बुढ़ऊ, छोड़ दे पार्क का खयाल।' छुरा दिखाते हुए बोला, 'नहीं छोड़ा तो ये छुरा देखा है?'

एक पल को तो शर्माजी कुछ झिझके। तन कांप गया। बस्ती वालों की तरफ देखा। फिर मैदान को देखा। फिर सोचा, अब मौत से क्या डरना। गुंडा फिर बोला, 'बुढ़ऊ, अपनी जान की फिकर नहीं है क्या?' शर्माजी को जान की कहां फिकर थी—अब। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। बस, गुंडे की आंखों में आंखें डालकर मुस्करा दिए। गुंडे को आदत थी कि जब भी वह धमकी देता था, लोग डर जाते थे। मगर इतने बूढ़े और बीमार आदमी के चेहरे पर विश्वास और मुस्कान देखकर गुंडे की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई।

असल में जान-बूझकर गलत काम करने वाले के दिल में डर रहता है। सच्चा काम कर रहा हो, उसे डर नहीं सताता—मौत का डर भी नहीं। गुंडे भाग खड़े हुए। बस्ती वालों के मन में भी एक विश्वास ने घर कर लिया।

कुछ ही महीने में पार्क तैयारी पर था। दो दिन बाद नेताजी को पार्क का उद्घाटन करना था। पार्क में चौकीदार तैनात हो गया था। जब रात को वह गश्त लगा रहा था तो उसने देखा कि पार्क के झूले पर कोई झूल रहा है। 'कौन है, कौन है?' कहते हुए चौकीदार वहां पहुंचा तो देखा कि झूले पर तो बड़े बाबू बैठे हैं। चौकीदार ने कहा, 'बड़े बाबू, बड़े बाबू। ठंड बढ़ती जा रही है। अब घर जाओ।' जब जवाब नहीं मिला तो वह और पास गया। वहां पहुंचकर चौकीदार क्या देखता है कि बड़े बाबू रस्सी को पकड़े-पकड़े ही चल बसे हैं। बड़े बाबू के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। अब तो बस, शरीर ही बचा था। किंतु बड़े बाबू के चेहरे पर चमक थी, मुस्कान थी।

रोते-रोते चौकीदार ने बस्ती वालों को जगाया। बस्ती में मातम छा गया। चौकीदार भागा-भागा गया और बड़े बाबू के बेटे उमेश को खबर दी। अगले दिन बड़े बाबू की शवयात्रा पर सारे बस्ती वाले रोते-बिलखते साथ थे। उमेश की समझ में कुछ न आया। 'इतने महान आदमी थोड़े ही थे—मेरे पिताजी! मामूली-से बड़े बाबू ही तो थे। फिर इतना मातम क्यों?'

चिता को अग्नि दी गई। सब आस-पास खड़े थे। उमेश ने बस्ती वालों की बातें सुनीं। साजिदा कह रही थी, 'अल्लाह बड़े बाबू को जन्नत देगा।'

मुन्नी ने कहा, 'कितनी मुश्किलें झेलीं, बड़े बाबू ने हमारे लिए। ....बेचारे।'

स्वीटी बोली, 'बड़े बाबू को 'बेचारा' क्यों कहती हो। उनके जैसा साहस वाला तो विरला ही होता है।'

चमेली ने कहा, 'बड़े बाबू कहा करते थे, हम लोगों के बीच काम करते हुए खुशी मिलती है। उसके पहले वे इतने खुश कभी नहीं थे।'

साजिदा ने कहा, 'बड़े बाबू तो फरिश्ता थे, फरिश्ता।'

मुन्नी बोली, 'नहीं, फरिश्ता नहीं थे। हम जैसे मामूली इंसान ही थे। बस, यह सच जान लिया था उन्होंने कि परोपकार ही सच्ची सेवा है।'

स्वीटी बोली, 'परोपकार करो, मगर सेवा भाव से। तभी असली सुख मिलता है जीवन में।'

चमेली ने कहा, 'तभी तो बड़े बाबू निडर थे। 'कैंसर' जैसी बीमारी से भी नहीं डरे।'

बस्ती वालों की बातें सुनकर उमेश को धक्का लगा। वह फूट-फूटकर रोने लगा। 'मेरे बाबूजी को 'कैंसर' था और मुझे पता भी नहीं था।' उसे लगा कि उस पर पिता का कर्ज है। यह तभी उतर सकता है जब वह भी दूसरों की सेवा में अपना सुख पाए। ❖

कल्याणकारी राज्य के पास सिवा इस आश्वासन के और क्या है कि वह किसी का चूल्हा ठंडा नहीं होने देगा। राजनीति के रेगिस्तान में कोई भी आश्वासन उस मृगजल की तरह है जो खोजे नहीं मिलता, पर दूर दिखाई देता है। इस रेगिस्तान में भटकती थकी-हारी देहें अपना ही विकल्प चुनने को बाध्य होती हैं। वे अपने प्रतिनिधि चुनने लगती हैं। वे यह भूल ही जाती हैं कि वे अपने-आप से सब-कुछ ले सकती हैं, लेकिन उन्हें तो बस दूसरों से याचना करने की आदत पड़ती जाती है कि वे अपने-आप को भजना भूल जाती हैं। वे अनन्यता के अनंत से छिटककर अनन्यता के साम्राज्य में भटकती हैं।

—ध्रुव शुक्ल

With best compliments from :

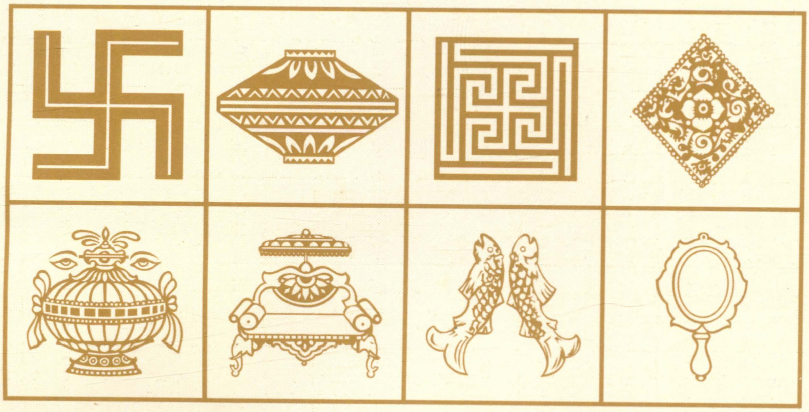

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

जैन भारती, दिसंबर, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

INA
Authorised Distributor

It has been our endeavor to get you the quality products & services at better price level and the marketing arrangement we have with INA and **FAG** on All India basis gives the chance to further that, providing better value for your money.

- **FAG Star Distributor**
- **FAG Industrial Distributor**
- **INA Authorised Distributor**

FAG

Premier (India) Bearings Ltd.
Kolkata

We congratulate you for being positioned within FAG as

Star Distributor - 2004

in view of your business contracted for year 2004.

We wish you all success in accomplishing greater strides.

FAG Kugelfisher AG

Star Distributor

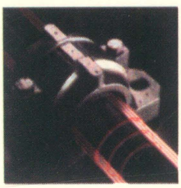

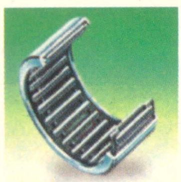

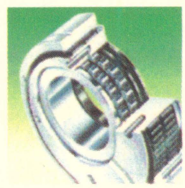

Premier (India) Bearings Ltd.

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata - 700 001. Phone : 22200640/22201926 Fax : 22485745 E-mail : pibl@vsnl.com

Authorisation is valid for supplies on all India basis :

Chandigarh Office :
SCO 41, 2nd Floor, Sector-20-C
Chandigarh - 160 020
Phone : 272 2287
Fax : (0172) 272 2287
E-mail : pibchd@indiatimes.com

Chennai Office :
83 (Old No. 41), Armenian Street
Chennai - 600 001
Phone : 2524 6911/6892/3727
Fax : (044) 2522 8612
E-mail : piblchennai@vsnl.com

Delhi Office :
2423/29, Surekha Building,
G. B. Road, 3rd Floor, Delhi - 6
Phone : 2321 7109,
Fax : (011) 2321 0276
E-mail : pibdel@indiatimes.com

Ludhiana Office :
BXXI 14651, Dholewal Chowk
Ludhiana - 141 003, Punjab
Phone : 2547524/525
Fax : (0161) 2547526
E-mail : rajvinder@pibldh.com

Mumbai Office :
Vashi Plaza, Ground Floor, Sector 17,
Navi Mumbai - 400 705
Phone : 2789 4595/6897
Fax : (022) 2789 6816
E-mail : pibvashi@bom8.vsnl.net.in

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।